स्वामी निरंजन

पंचदशी प्रश्नोत्तरी

लेखक : **स्वामी निरंजन** ,
प्रकाशक : **निरंजन बुक् ट्रष्ट**
द्वितीय मुद्रण : **गुरु पूर्णिमा -२००१**
पुस्तक संख्या **: १०००**
अक्षर रूपायन एवं मुद्रण: **दिव्य प्रकाशनी**
दिव्य विहार, सामन्तरापुर, भुवनेश्वर - २, फोन : ४३६५६६
प्रच्छद पस्तुति : **सुधिर लेंका**
डिजिटल् बाइंडिंगस्: **गणेश ष्टेसनारी वार्कस्,** लक्ष्मी सागर, भुबनेश्वर- ६

मूल्य : **रु १००/-**

Panchadashi Prasnattori Dipika

Author: **SWAMI NIRANJAN**
Publisher : **Niranjan Book Trust**
Second Edition : **Guru Purnima - 2001**
Number of Copies : **1000**
Letter Design & Printed by : **Divya Prakashani**
Divya Vihar, Samantarapur, Bhubaneswar-2, Ph : 436566
Cover Layout : **Sudhir Lenka**
Digtal Perfect Bindings: **Ganesh Stationary Works,** BBSR-6

Price : **Rs 100 /-**

प्रकाशक : **निरंजन बुक् ट्रष्ट**

द्वितीय मुद्रण : **२००८**
मुद्रण एवं अलंकरण : **दिव्य मुद्रणी,** भुवनेश्वर - २ (उड़िसा) फोन : २३४०१३६
प्रच्छद प्रस्तुति : **विभु**
मूल्य : **रु ५०/-**

पंचदशी प्रश्नोत्तरी

प्रश्न -१ : दूर से किसी वस्तु की सिद्धि का अनुमान करने हेतु हमें किन-किन बातों का ज्ञान होना चाहिये ?

उत्तर : अनुमान द्वारा वस्तु प्राप्ति हेतु व्यक्ति को (१) पक्ष, (२)साध्य, (३)हेतु, (४) दृष्टान्त हेतु चार वातों का ज्ञान होना परमावश्यक है । उसके बिना दूरस्थ वस्तु की सिद्धि होना शक्य नहीं होगा ।

(१) **पक्ष** : जहाँ अपने साध्य (लक्ष्य) की प्राप्ति की आशा हो उसे पक्ष कहते हैं ।

(२) **साध्य** : जिस वस्तु को हमें सिद्ध करना है अथवा हम जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहते हैं उसे साध्य कहते हैं ।

(३) **हेतु** : साध्य की प्राप्ति होने का जिस लक्षण अथवा कारण से अनुमान या विश्वास हो हेतु कहते हैं ।

(४) **दृष्टान्त** : जिस हेतु से अर्थात् लक्षण को देख साध्य वस्तु की निश्चित रूप से प्राप्ति का विश्वास हो उसे दृष्टान्त कहते हैं ।

किसी रास्ते पर चलने वाले व्यक्ति को भोजन बनाने के लिये अग्नि की आवश्यकता हुई । लेकिन पार में माचिस, लाइटर् भी नहीं था । इसलिये उसने किसी अन्य राहपर चलने वाले व्यक्ति से कहा, 'ऐ भाई ! मुझे अग्नि की जरूरत है, आप दया करके माचिस देंगे ?' उस व्यक्ति ने कहा, 'भाई ! माचिस तो मेरे पास नहीं है यदि तुम्हें अग्नि चाहिये वह सामने जो

पाहड़ हे वहाँ तक चले जाओ, वहाँ किसी घर से अग्नि मिल जायेगी ?' तभी अग्नि की चाह वाले व्यक्ति ने कहा, 'भाई ! वहाँ तम मैं चला तो जाउंगा, परा वहाँ अग्नि मिल जावेगी इस तुम्हारी बात में, मैं कैसे विश्वास करूँ ?' तब उस अग्नि की राह बताने वाले ने कहा ह्नह्न

"**पर्वतो बन्हिमान् धूमात् महानसवत्** ।"

अर्थात् पर्वत पर धूआँ दिखाई पड़ता है इसलिये वहाँ अग्नि अवश्य होना चाहिये । जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि अवश्य मिलती है । जहाँ धूआँ हो वहाँ अग्नि होगि उसमें क्या कोई प्रमाण है ? हाँ रोसोई घर में जब धूआँ निकता है ते वहाँ अग्नि देखी जाती है । तब वह व्यक्ति धूआँ देख वहाँ गया और उस घर से अग्नि प्राप्त हो गई । यहाँ पर्वत पक्ष है, क्योंकि पर्वत में अग्नि की सिद्धि का संदेह है । अग्नि साध्य है तथा धुआँ हेतु अर्थात् कारण है तथा रसोई घर दृष्टान्त है । क्योंकि वहाँ अग्नि को धुँवे के साथ प्रत्यक्ष देखा है । इसलिये पर्वत पर धूम (धुआँ) है तो पर्वत में अग्नि अवश्य होना चाहिये ।

इसी प्रकार जीव ब्रह्म के अभेद रूप वैदिक अनुमान में -

(१) जीवः परस्मान्न भिद्यते, (२) सच्चिदानन्द लक्षणत्वात् , (३) यः सच्चिदानन्द लक्षण स परस्मान्न भिद्यते यथा परमात्मा । (४) तथा चापम् तस्मात्तथा ।

इस श्रुति कथन में जीव पक्ष है । जीव ब्रह्म से अभिन्न है, यह लक्ष्य है । जीव में सच्चिदानन्द लक्षण होने से जीव परमात्मा से भिन्न नहीं है । यह हेतु है । तथा जीव को ब्रह्म स्वरूप होने में ईश्वर दृष्टान्त है । क्योंकि जो-जो सच्चिदानन्द रूप होता है वह परमात्मा से भिन्न नहीं होता, जैसा कि ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप होने से परमात्मा से भिन्न नहीं है ।

अतः जीव परमात्मा से अभिन्न है, सच्चिदानन्द लक्षण वाला होने से क्योंकि जो सच्चिदानन्द लक्षणवाला होता है वह परमात्मा से भिन्न नहीं होता । जैसे कि ईश्वर सच्चिदानन्द लक्षणवाला होने से ब्रह्म से भिन्न नहीं है, ऐसी

श्रुति की प्रतिज्ञा है । अतः जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं किन्तु ब्रह्म ही है, सच्चिदानन्द लक्षण होने से ।

प्रश्न - २ : अविद्या अर्थात् अज्ञान को कारण शरीर क्यों कहते हैं ?

उत्तर : अविद्या स्थूल, सूक्ष्म शरीर का कारण शरीर है । अज्ञान क लिये यह जीव चौरासी लाख योनियों में भटकता हुआ असहनीय दुःखों को भोगता है इसलिये अज्ञान को थूल, सूक्ष्म शरीर का कारण होने से इसे करण शरीर कहते हैं । क्योंकि प्रकृति की अवस्था विशेष होने से उसे अविद्या कहते हैं और तत्त्व ज्ञान से नष्ट हो जाने से शरीर कहलाती है ।

प्रश्न - ३ : अविद्या तथा माया में चिदात्मा (परब्रह्म)का प्रतिविम्ब पड़ने से क्यों भेद हो जाता है ?

उत्तर : माया में परब्रह्म का प्रतिविम्ब पड़ने से माया को अपने आधीन कर लेता है और उस चिदाभास में सर्वज्ञता आदि गुणों की उत्पत्ति हो जाती है तथा माया का नियंता हो जाने से उस परब्रह्म को ही माया उपाधि के कारण ईश्वर कहते हैं ।

अविद्या में भी परब्रह्म का प्रतिविम्ब पड़ता है किन्तु वह मलिन सत्त्व प्रधान उपाधि में चिदाभास परतंत्र होकर याने उसके वश में होकर शुभ-अशुभ कर्मानुसार देव, मनुष्य, पशु, तिर्यक आदि देह धारण कर जीव भाव को प्राप्त होता है । जिस प्रकार मुंज से ईषीका (अग्रशलाका) को पृथक् करलेते हैं इसी प्रकार तीनों शरीर से धीर पुरुष युक्तियों के द्वारा आत्मा को पृथक् जानलेते हैं । इस प्रकार तीनों शरीरों से पृथक् किये हुए जीवात्मा को परब्रह्म कहा जाता है ।

प्रश्न - ४ : ईश्वर के समष्टि रूप तथा जीव को व्यष्टि रूप होने में क्या कारण है ?

उत्तर : ईश्वर सृष्टि के समस्त स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों को

अपनी आत्मा के संग एकता के ज्ञान से समष्टि कहलाता है और जीव अपने आत्मा के साथ सब को अभिन्न न जानने के कारण व्यष्टि कहलाता है ।

उसमें भी एक स्थूल शरीर का अभिमानी जीव विश्व और समस्त स्थूल शरीरों का अभिमानी ईश्वर वैश्वानर कहलाता है और विराट उसका शरीर कहलाता है ।

एक सूक्ष्म शरीर का अभिमान करने वाला जीव तैजस याने अन्तःकरण से तादात्म्य एकता के अध्यास को तैजस नाम प्राप्त होता है और समष्टि सूक्ष्म शरीर (लिंग देह) के साथ परमेश्वर तादात्म्य करके याने अहं (मैं हूँ) इस अभिमान से हिरण्यगर्भ नाम को प्राप्त होता है ।

एक कारण शरीर का जीव अभिमान करने से प्राज्ञ कहलाता है तथा समष्टि कारण शरीर में तादात्म्य (एकता) याने अहं (मैं हूँ) इस अभिमान से ईश्वर होता है ।

प्रश्न – ५ : आत्मा से परमप्रीति होने से वह परमानन्द स्वरूप है तब इन्द्रियों के विषय में मनुष्य की प्रीति न होना चाहिये । फिर प्रीति क्यों होती है ?

उत्तर : आत्मा की परमानन्द रूपता भान होने पर भी भान न होने के समान है । जैसे स्कूल में पढ़ने वाले बालकों के समूह में अपने लड़के को पढ़ते देखकर भी पढ़ने की आवाज तो नहीं आती है । याने बालक की आवाज सामान्य रूप से भासते हुए भी विशेष रूप से नहीं भासती है क्योंकि उसमें अन्य बालकों की आवाज प्रतिबन्ध रूप है । उस कारण भान होने पर भी अभान रूप हो जाता है । इसी प्रकार आत्मा परमानन्द स्वरूप होने पर भी इन्द्रियों द्वारा विषय भोग होने के समय विषय सुख रूप लगते हैं किन्तु मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ यह नहीं भासने के समान हो रहा है । लेकिन प्रतिरात्रि सुषुप्ति में एवं समाधिकाल बिना विषय के अज्ञान आनन्द रूपता का भान सबको होता है । क्योंकि अनादि अविद्या (अज्ञान) से अपने सच्चिदानन्द

तथा अद्वय स्वरूप में विपरीत ज्ञान अर्थात् मैं असत् जड़, दुःख तथा परमात्मा मुझसे भिन्न है यह द्वैतपन का है अर्थात् अविद्या रूप प्रतिबन्ध के कारण ''है, भासता है'' (अस्ति, भाति) इस प्रकार व्यवहार योग्य आत्मा में (अविद्यामान) तथा जड़ (अप्रकाशमान) वस्तु सी प्रतीती होती है ।

जैसे अन्य बालकों के शान्त होने पर अपने लड़के की आवाज विशेष रूप से सुनाई पड़ जाती है, उसी प्रकार अविद्या की ज्ञान द्वारा निवृत्ति होने पर मैं हूँ जो सामान्य रूप से आत्मा का भान हो रहा था । वह स्वरूप ज्ञान होने पर मैं सत, चित, आनन्द रूप से स्पष्ट अनुभव में आ जाता है । मैं हूँ यह आत्मा के सतपने का सामान्य रूप से अनुभव तो सबको है किन्तु मैं चेतन तथा आनन्द रूप हूँ इस प्रकार विशेष ज्ञान नहीं है । जब सद्गुरु द्वारा आत्मा का सोऽहम् रूप साक्षात्कार हो जाता है तब जीव को अपने सच्चिदानन्द एवं अद्वय स्वरूप का बोध हो जाता है ।

प्रश्न – ६ : ज्ञान नित्य सत तथा आनन्द रूप आत्मा कैसे?

उत्तर : जाग्रत अवस्था में इन्द्रिय रूप उपाधि के कारण व्यवहार में तो भेद है किन्तु ज्ञान एक ही है । शब्द का अनुभव करनेवाला ज्ञान, स्पर्श के अनुभव करने वाले ज्ञान से भिन्न नहीं है । इसी प्रकार समस्त इन्द्रियों के विषयों को अनुभव करने वाला ज्ञान एक है । उसी प्रकार स्वप्न में भी विषयों की तो भिन्नता है, किन्तु उन्हें ग्रहण करने वाला अनुभव ज्ञान एक ही है ।

इसी प्रकार सुषुप्ति में भी जाग्रत तथा स्वप्न के ज्ञान से तो अभिन्नता है किन्तु विषय से भिन्नता है । सुषुप्ति से जाग्रत होने पर स्मृति रूप ज्ञान ''मैं सुख से सोया, कुछ पता नहीं चला'' यह अनुभव किये का ही वर्णन करता है । घट से घट का जानने वाला व्यक्ति जैसे भिन्न है उसी प्रकार अज्ञान को जानने वाला ज्ञान अज्ञान से अवश्य भिन्न है । इस प्रकार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्था में व्यभिचार होने पर भी ज्ञान सब में एक है । यह

नियम है कि तीनों कालों में जिसका बाध न हो सके वह सत्य होता है । तथा तीनों अवस्थाओं एवं कालों को जानने वाला ज्ञान चेतन है जड़ नहीं है । इस प्रकार ज्ञान सत + चेतन सिद्ध हुआ । अब ज्ञान में आनन्द लक्षण भी देखते हैं कि वस्तु सम्मुख पड़ी हो किन्तु उसका भान (पहचान विवेक) न हो तो भी कोई आनन्द नहीं आता है ।

(१) जिह्वा पर औषधि लगाकर रसना को शून्य कर बहुत मिष्टान्न खाने पर पेट तो भर जायेगा, किन्तु स्वाद का आनन्द नहीं मिलेगा । क्योंकि रसना में स्वाद ज्ञान अनुभव करने की क्षमता नहीं है । जब उस औषधि का प्रभाव शून्य होगा तब रसना इन्द्रिय को थोड़ा सा भी मिष्टान्न खिलाने से तत्काल उसका स्वाद एवं आनन्द का अनुभव होता है ।

(२) लड़की को कोई चलते चलते किसी लड़के से भूल से धक्क लग जावे तो लड़की क्रोधित हो गाली देने लग जाती है व अपने को धिक्कारती है कि आज किस पापी का सुबह उठते-उठते दर्शन हुआ जिसके कारण यह पाप रूप पर पुरुष का स्पर्श प्राप्त हुआ, किन्तु उसकी सहेली उसी समय जब यह बतादे कि अरे पगली ! यही तो वो लड़का है जिसे तेरे पिताजी ने तेरी शादी की बात पक्की की है । अब यह सुनते भी उस लड़की के आनन्द का ठिकाना नहीं रहता है । अब तो पूर्व लगा धक्का ही सौभाग्य रूप अनुभव करती है और ख्याल आता है कि घर की नौकरानी का मुहँ सुबह देखा था अच्छा सकुन हुआ आज उसे मैं अपनी साढ़ी खुशी में दे दूँगी । यह विचार अनुभव स्पर्श का नहीं है प्रत्युत ज्ञान का है । स्पर्श तो पहले ही करके वह लड़कर चला गया था किन्तु पहले ज्ञान न होने से तो उस पर क्रोध आया था । किन्तु अब ज्ञान होने पर उस स्पर्श का केवल स्मरण करके भी उसको आनन्द आने लगा, चहरे पर खुशी आगई, मन नाच उठा, चाल बदल गई । बातें सहेली से करती थी तब और अदा से करने लगी मानो पैर जमीन से ऊपर उठ रहे हो । कॉंलेज में जाकर कैन्टिन से सबको चाय नास्ता करा दिया इस खुशी में ।

इस प्रकार ज्ञान में सतपना, चेतन पना, तथा आनन्द पना तीनों लक्षण है । अब आप कहेंगे कि इस को जानने से क्या लाभ ? तो यह ज्ञान ही आत्मा है, आत्मा ही ज्ञान है । क्योंकि आत्मा के अलावा सत्य, नित्य, चेतन आनन्द किसी अन्य में नहीं है । सब को अपने आप में परम प्रीति है और किसी में परम प्रीति परम आनन्द के कारण ही हुआ करती है । इसलिये अपना ज्ञान आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है और वह परमात्मा से अभिन्न ही है । क्योंकि जो जो सच्चिदानन्द लक्षण वाला होता है वह परमात्मा से भिन्न नहीं होता है । जैसे ईश्वर में सच्चिदानन्द लक्षण होने से वह परमात्मा से अभिन्न है । उसी प्रकार अपना आत्मा भी सच्चिदानन्द लक्षण वाला होने से परमात्मा से अभिन्न ही है । यहाँ अनुमान में देह पक्ष है, जीव ब्रह्म अभिन्नता साध्य है तथा सच्चिदानन्द लक्षण हेतु है तथा ईश्वर इसमें दृष्टान्त है ।

प्रश्न - ७ : सद्‌गुरु का उपदेश जीव को किस प्रकार शान्ति का हेतु है ?

उत्तर : जैसे किसी दयालु पुरुष ने नदी के प्रवाह में बहते हुए कीट को उसके पूर्व किये शुभकर्म के परिपाक होने से उसे नदी के बाहर किनारे पर किसी वृक्ष के नीचे छाया में रख दिया और जैसे वह सुख का भोग करता है । उसी प्रकार से जब मनुष्य के पूर्व जन्म में किये संचित् पुण्य कर्म के परिपाक से जीव ब्रह्म की अभिन्नता का अपरोक्ष ज्ञान कराने वाला तत्त्वदर्शी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य मिल जाता है । तब वह सद्‌गुरु उस जिज्ञासु को वेद के तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का उपदेश कराते हैं । महावाक्य में त्वं पद के वाच्यार्थ अल्पज्ञादि तथा तत् पद के वाच्यार्थ सर्वज्ञादि विरोधी अंश प्रतीयमान होता है । उन अंशों का भाग-त्याग लक्षणा द्वारा परित्याग कराकर त्वं पद के लक्ष्य जीव साक्षी तथा तत पद का लक्ष्य ईश्वर साक्षी को उपाधि रहित घटाकाश, मठाकाश की तरह एकत्व सिद्ध करा देता है । याने मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ इस प्रकार का अपरोक्ष दृढ़ बोध करा देता है तब जीव अपने मूल स्वरूप ब्रह्म को जानने से ब्रह्मरूप हो जाता है । (ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति)

जिसके फल स्वरूप जीव बिना परिश्रम परमपद को प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ यह है कि पांचों कोश, तीन अवस्था, तीन शरीर के विवेक द्वारा जीव अपने आत्म स्वरूप को इनसे भिन्न तथा ब्रह्म से अभिन्न रूप जानकर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ।

प्रश्न - ८ : परोक्ष ज्ञान तथा अपरोक्ष ज्ञान के फल में क्या भेद है ?

उत्तर : श्रेष्ठ कर्म और वासना रूप प्रतिबन्ध से रहित हुआ जीव गुरु के द्वारा तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का उपदेश ग्रहण करता है । जिस अज्ञानी के मन में ब्रह्म नहीं है इस प्रकार असत्वापादक आवरण रहता है उसे सद्गुरु 'ब्रह्म है' इस प्रकार अवान्तर वाक्य का उपदेश कर उसकी बुद्धि में परोक्षज्ञान उदय होता है । वह ब्रह्म विज्ञान रूप ज्ञानाग्नी के प्रभाव से बुद्धि पूर्वक याने जान बूझकर किये सपूर्ण पापों को भी अग्नि के समान दग्ध करदेता है । संशय तथा विपरीत भावना से रहित गुरु उपदेश से महावाक्यों द्वारा अपरोक्ष आत्मा का ज्ञान होता है । वह अविद्या को उसी प्रकार नष्ट कर देता है जैसे मध्याह्न का सूर्य अन्धकार को नष्ट करदेता है । अविद्या (अज्ञान) ही जन्म-मृत्यु का कारण है । उसे अपरोक्ष ज्ञान ही नष्ट करने में समर्थ है । कर्म व उपासना नहीं कर सकती है ।

इस प्रकार तत्त्वमसि गुरु उपेदश से ब्रह्म और आत्मा की एकता रूप तत्त्वज्ञान उदय होता है । फिर अपने मन को उसी प्रकार एकत्व निश्चय रूप ब्रह्माकार वृत्ति में स्थिर करना चाहिये । ''मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ'' इस प्रकार का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है । उस ब्रह्मज्ञान से संसार बन्धन नष्ट होकर परमपद रूप मोक्ष को प्राप्त हो जाता है । अर्थात् जीव सत्य, ज्ञान तथा आनन्द रूप ब्रह्म ही हो जाता है, यही अपरोक्ष ज्ञान का साक्षात् फल है ।

प्रश्न - ९ : ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादन कारण कैसे है ?

उत्तर : तत्त्वमसि आदि महावाक्यों में तत्पद वाच्यार्थ से ईश्वर के एवं

लक्ष्यार्थ से ब्रह्म के बोधक है । वह शुद्ध सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म ही तमो-गुण प्रधान माया को स्वीकार करके चर-अचर रूप जगत् के कार्यों का उपादान कारण होता है । अर्थात् भ्रम रूप जगत् का अधिष्ठान होता है और वह शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म ही शुद्ध सत्वगुण प्रधान माया की उपाधि को स्वीकार करके जगत उत्पत्ति, स्थिति तथा लय आदि कार्यों का ज्ञाता रूप निमित्त कारण होता है ।

फिर वही निमित्त और उपादान रूप ब्रह्म तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के 'तत्' शब्द से कहा जाता है, किन्तु महावाक्यों के अर्थ का ज्ञान तभी हो सकता है जब उसके पदों का ज्ञान हो । अतः यह सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म तमोगुणी माया रूप उपाधि से जगत् का उपादान कारण और शुद्ध सत्त्वगुणी माया रूप उपाधि से जगत् का निमित्त कारण होता है । उसी निमित्त और उपादान कारण ब्रह्म को महावाक्यों में ईश्वर वाची 'तत्' शब्द से कहा जाता है । तथा वही सच्चिदानन्द ब्रह्म मलिन सत्त्वगुण प्रधान अविद्या नाम की माया को जब स्वीकार करता है तब महावाक्यों में वही ब्रह्म जीव वाची 'त्वं' पद से कहा जाता है । जैसे मकड़ी (उर्णनाभी) अपने मुख से तंतु निकालती है और फिर वही मकड़ी उस तन्तु से जाल निर्मित करता है । इस प्रकार मकड़ी जाल का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है उसी प्रकार ब्रह्म भी माया उपाधि से जगत का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है ।

प्रश्न -१० : आत्मा ब्रह्म रूप कैसे हो सकता है ?

उत्तर : पंचकोशों का विवेक करने से पंचकोशों का साक्षी आत्मा सच्चिदानन्द लक्षण वाला होने से ब्रह्म रूप है ।

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय इन पाँच कोशों से साक्षी आत्मा को ज्ञान द्वारा पृथक् जान कर कि वह ब्रह्म स्वरूप आत्मा मैं हूँ । इस प्रकार जानकर ब्रह्म रूप होता है ।

पंचकोशों से ढका हुआ जीवात्मा अपने आत्म स्वरूप के विस्मरण से

जन्म-मरण रूप संसार को प्राप्त होता है । जैसे कोशकारी कीट अन्य कीट को कोश में ढककर क्लेश देता है । इसी प्रकार अन्नमयादि कोशों से ढका यह जीव क्लेश को प्राप्त होता है ।

साक्षी आत्मा तो वस्तुतः असंग है किन्तु उन कोशों के साथ जीव तादात्म्यता के अध्यास से याने उन कोशों में अहं (मैं हूँ) इस रूप में मिथ्या अभिमान करने से उस-उस कोशमय कहलाता है । अविद्या इस में मूल कारण है ।

प्रश्न - ११ : अन्वय तथा व्यतिरेक द्वारा आत्मा पंचकोश से किस प्रकार अलग है ?

उत्तर : इस स्थूल देह का जन्म, पोषण तथा विलय अन्नरूप पृथ्वी से होने के कारण इसे अन्नमय कोश कहते हैं और स्वप्न तथा सुषुप्ति में इस अन्नमय कोश रूप स्थूल शरीर का का अभाव होने से व्येतिरेकी है किन्तु जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति की साक्षी मैं प्रत्यक् आत्मा की हर अवस्था में प्रतीति होना ही आत्मा का अन्वय (व्यापकता) कहलाता है ।

जो सब अवस्था में रहे उसे अन्वय कहते हैं । और जो सब अवस्था में न रहे उसे व्यतिरेक कहते हैं । इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर (लिंग देह) जिसके अन्तर्गत ही प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञान मय कोश आ जाते हैं । उसका अन्वय व्यतिरेक भी उपरोक्त प्रकार से ही है । सुषुप्ति अवस्था में लिंग देह की अप्रीति ही उसका व्यतिरेक पना है तथा कुछ पता नहीं चला इस प्रकार के ज्ञान में आत्मा का भान ही अन्वय है अर्थात् सुषुप्ति अवस्था के साक्षी रूप से जो आत्मा का स्फूरण है वह आत्मा का व्यापक पना है तथा लिंग देह का अभाव ही उसका अभाव है ।

अब जिसे आनन्दमय कोश कहते हैं, जो कारण शरीर के अन्तर्गत है । समाधि अवस्था में सुषुप्ति के अभाव होने पर याने कारण शरीर रूप अविद्या अथवा अज्ञान की अप्रतीति होने पर केवल आत्मा का ही जो भान

है वह आत्मा का अन्वय है । और आत्मा के भान में अज्ञान की प्रतीति न होना ही व्यतिरेक कहलाता है ।

इस प्रकार उपरोक्त पाँचों कोशों में आत्मा का अन्वय है । तथा पाँचों कोशों को जानने वाला होने से घट द्रष्टा की तरह पृथक् है और यह मैं असंग आत्मा ही ब्रह्म रूप है । जैसे मूंज नाम के तृण विशेष से उसके मध्य गर्भ में स्थित कोमल तृण रूप इषीका को युक्ति से ऊपर के आच्छादक जो स्थूल पत्ते आदि हैं, उनको काटकर अलग कर इषीका को मूँज से निकाल लेते हैं इसी प्रकार अन्वय व्यतिरेक रूप उपाय से सद्गुरु साधन चतुष्टय सम्पन्न जिज्ञासु को पूर्वोक्त तीनों शरीरों से पृथक् मैं साक्षी ब्रह्म हूँ ऐसा बोध करा देते हैं ।

प्रश्न - १२ : श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का क्या स्वरूप है ?

उत्तर : तत्त्वमसि आदि महावाक्य से उन वाक्यों के अर्थ का जो अनुसंधान अर्थात् जीव-ब्रह्म की एकता का जो ज्ञान है उसे श्रवण कहते हैं ।

जीव ब्रह्म की एकता की संभावना जो शास्त्र एवं सद्गुरु से सुनी है उसको अभेद की साधक एवं भेद की बाधक युक्तियों द्वारा निश्चय करने को मनन कहते हैं अर्थात् एकत्व के अनुसंधान को श्रवण और अन्तःकरण में निश्चय को मनन कहते हैं ।

उन श्रवण और मनन द्वारा संदेह रहित जो अर्थ (ब्रह्मात्मा) उसमें चित की एकात्मता याने एकाकार वृत्ति का प्रवाह तथा अनात्म देहाध्यास का मन से परित्याग होना उसे निदिध्यासन कहते हैं । इसी निदिध्यासन की परिपक्व अवस्था को समाधि कहते हैं । जहाँ ध्यान और ध्याता का अभाव होकर केवल ध्येयाकार वृत्ति ही रह जाती है याने ब्रह्माकार वृत्ति को समाधि कहते हैं ।

प्रश्न - १३ : इस ब्रह्माकार वृत्ति रूप समाधि का क्या फल है ?

उत्तर : अनादि काल से आज तक किये हुए जाने-अनजाने में संचित् हुए जो अनन्त पाप तथा पुण्य रूप कर्म हैं । वे सब इस समाधि से नष्ट हो जाते हैं क्योंकि श्रुति में कहा है -

१) क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन दृष्टे परावरे ।

२) ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।

३) क्षणमेकं क्रतुशतस्यापि ।

अर्थात् उस कारण कार्य रूप ब्रह्म के ज्ञान होने पर ज्ञानी के सब कर्म नष्ट हो जाते हैं । ज्ञान रूप अग्नि सर्व कर्मों को दग्ध कर देती है । इस प्रकार पापों का नाश और शुद्ध धर्म की वृद्धि होती है ।

जिनको ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया है ऐसे योगियों को श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं । वे इस निर्विकल्प समाधि को धर्म का मेघ कहते हैं, क्योंकि यह सहस्त्रों धर्म रूप अमृत की धाराओं को वरसाती है । श्रुति में ऊपर लिखा है कि एक भी समाधि का क्षण सौ यज्ञों के फल को देता है । तात्पर्य यह है कि ब्रह्म ज्ञानी मुक्त हो जाता है । इस प्रकार समाधि से जीव कृतकृत्य हो जाता है ।

प्रश्न - १४ : मन को इन्द्रियों का स्वामी तथा अन्तःकरण क्यों कहा जाता है ?

उत्तर : पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पाँच ज्ञानेन्द्रिय का प्रेरक होने से वह दसों इन्द्रियों का अध्यक्ष (स्वामी) मन है और वह मन, इन्द्रिय बिना बाहर के विषयों में नहीं जा सकने के कारण अन्तःकरण कहलाता है ।

जब इन्द्रिय अपने-अपने विषयों में स्थापित हो जाती है अर्थात् विषयों पर पहुँच जाती है उस समय वह मन गुण दोष का विचार करता है कि यह अच्छा है और यह बुरा है । तात्पर्य यहाँ यह है कि आत्मा सबका प्रमाता (जानने वाला) है । इस से सब ज्ञानों में सामान्य रूप से विद्यमान है

और श्रोत्र, त्वचा, चक्षु आदि इन्द्रिय शब्द, स्पर्श, रूप आदि अपने-अपने पृथक् विषयों का ही ज्ञान उत्पन्न करने में समर्थ है । इस से प्रतीत होता है कि उन-उन विषयों में गुण-दोष का विचार मन के बिना अन्य कोई इन्द्रिय द्वारा नहीं होता । मन के निर्णय कर लेने पर ही इन्द्रिय अपने-अपने विषयों को ग्रहण-त्याग करने के लिये प्रयत्नशील होती है । बिना मन के आदेश हुए कोई इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण नहीं कर सकती यह अनुभव सिद्ध बात है ।

प्रश्न - १५ : सत्त्व, रज तथा तमो गुण का मन पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

उत्तर : मन त्रिगुणात्मक है याने उसमें तीनों गुणों का समावेश है । जब मन में सत्त्वगुण प्रधान होता है तब वैराग्य, क्षमा, उदारता, प्रेम, सन्तोष, शांति आदि वृत्तियां उत्पन्न होती है ।

और जब रजोगुण प्रधान होता है तब काम, क्रोध, लोभ, मोह, प्रयत्न, चंचलता आदि वृत्तियाँ उत्पन्न होती है ।

तथा मन में जब तमोगुण प्रधान होता है तब आलस्य,भ्रम, नींद, प्रमाद आदि विकार रूप वृत्तियाँ उत्पन्न होती है ।

प्रश्न - १६ : तीनों गुणों के फलों में क्या अन्तर है ?

उत्तर : सत्त्वगुणी विकारों से पुण्य की और, रजोगुणी विकारों से पाप की उत्पन्न होती है, तथा तमोगुणी विकारों से वृथा ही जीवन का नाश होता है । उस से न पुण्य होता है न पाप, क्योंकि मूढ़, आलसी अच्छा बुरा कुछ भी नहीं कर सकता है । अतः सत्त्वगुणी अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ऊपर की ओर उठता है । रजोगणी अन्तःकरण की मलिनता तथा अधिक प्रवृत्ति से मृत्युलोक में ही स्थित रहता है तथा तमो गुणी अधोगती को प्राप्त होता है ।

प्रश्न - १७ : ब्रह्म मन, वाणी का विषय न होने से कैसे जाना जा

सकता है ? तथा भूतों के कार्यों का विवेक कैसे किया जाता है ?

उत्तर : ब्रह्म को तो नहीं जान सकते क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं है, किन्तु उसके कार्य उपाधि रूप पाँचों भूतों के विवेक द्वारा जानने योग्य है ।

आकाश,वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी इन पंचभूत के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध क्रमशः गुण है । आकाश में एक, वायु में दो, तेज में तीन, जल में चार तथा पृथ्वी में पांच गुण रहते हैं । कार्यों में अपने-अपने कारण के गुण भी विद्यमान रहते हैं इसलिये प्रत्येक भूत के गुण बढ़ते जाते हैं ।

इन पाँचों भूतों से क्रमशः श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा नासिका पांच ज्ञान इन्द्रियाँ पैदा हुई । कर्ण आदि गोलक (रहने का स्थान) में स्थित हुई ये इन्द्रियां अपने शब्द, स्पर्श आदि विषयों को क्रम से ग्रहण करती है ।

इन्द्रियाँ सूक्ष्म होने से कार्यों द्वारा अनुमान से ही जानी जाती है । अनुमान इस प्रकार किया जाता है कि बिना किसी कारण के क्रिया उत्पन्न नहीं होती । जैसे शब्द का ज्ञान क्रिया से श्रोत्र इन्द्रिय का अनुमान किया जाता है । ये इन्द्रियाँ अपंचीकृत भूतों के कार्य होने से सूक्ष्म होती है । इसी प्रकार भूतों के पृथक्-पृथक् रजोगुण अंश से पांच वाक् (वाणी) पाणि (हाथ) पाद (चरण) पायु (गुदा) उपस्थ (लिंग) कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुई जो क्रमशः अपना विषय वचन, आदान, गमन, विसर्ग तथा विषयानन्द इन प्रसिद्ध व्यापार को करती है ।

अब इस जगत् के भौतिकता के ज्ञान में शब्द, स्पर्श, रूप, आदि स्पष्ट गुणों एवं पदार्थों में भूतों की कार्यता प्रकट दीखती है । देह इन्द्रियादिक में भी भूतों की कार्यता का निश्चय आगम (श्रुति स्मृति) और अनुमान से होता है । श्रुति तो इसमें स्पष्ट प्रमाण है ।

'अन्नमय ही सौम्यमन अपोमयः प्राणः तेजो मयी वाक्'

अर्थात् हे सौम्य ! मन अन्नमय, प्राण जलमय और वाक् तेजोमयी है ।

यह अनुमान भी है कि श्रोत्र इन्द्रिय आकाश के शब्द गुण को ही ग्रहण करती है, वायु के स्पर्श गुण को नहीं करती है । क्योंकि जो जिसका कार्य होता है वह उसी अपने कारण के गुण को ही ग्रहण करता है । अतः इस देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, अन्तःकरण को पंच भूत से उत्पन्न होनेके कारण भूत स्वरूप ही जानना चाहिये । तथा इन देहादिक भूत भौतिक समस्त प्रपंच का प्रकाशित करने वाला एक अद्वितीय सत् ब्रह्म रूप आत्मा ही है । छान्दोग्य उपनिषद में अरुण के पुत्र उद्दालक मुनि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को यही उपदेश दिया था कि ''सृष्टि से पूर्व यह संपूर्ण जगत् अद्वितीय एक सत् ब्रह्म रूप ही था । उसको जिसने भी जाना वह सर्वरूप हो जाता है ।''

''उस इस ब्रह्म को इस समय जो इस प्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ'' वह सर्व हो जाता है ।'' बृहदारण्यक श्रुति के अध्याय १ ब्राह्मण ४ मन्त्र १० में यह विवेक करने का फल बताया है कि ''पहले यह ब्रह्म ही था और उसने अपने आप को ही जाना । अतः वह सर्व हो गया, आगे भी जो जानेगा वह सर्व हो जावेगा'' । अतः समस्त निषेधों की अवधि जो है वह एक सतरूप आत्मा मैं हूँ ऐसा विवेक करना चाहिये और यही ब्रह्म को जानना है । इस से अन्यथा प्रकार 'इस' रूप से या 'उस' रूप से ब्रह्म को इन्द्रिय द्वारा नहीं जान सकते ।

प्रश्न - १८ : ''एक अद्वितीय ब्रह्म है'' इस श्रुति के कथन का क्या भावार्थ है ?

उत्तर : एक ही अद्वितीय ब्रह्म है इन तीन पदों से स्वगत, सजातीय तथा विजातीय भेदों से रहित शुद्ध अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म का निरूपण श्रुति ने किया है ।

वृक्ष को अपने पत्र, पुष्प, फल डालादि से जो भेद है, वह स्वगत भेद

कहलाता है । वृक्ष का अन्य वृक्षों से जो भेद है वह सजातीय भेद कहलाता है और वृक्ष का पत्थर आदि से जो भेद है वह विजातीय भेद होता है । इस प्रकार आत्मा में इन तीनों भेदों का अस्वीकार 'एक एवं अद्वितीय ब्रह्म' इन तीनों पदों से किया है ।

सत वस्तु आत्मा अवयव रहित होने से स्वगत भेद की उस में शंका नहीं की जा सकती है । यदि कहे कि नाम, रूप तो उसके ही भेद है किन्तु नहीं । नाम, रूप उसके अवयव (अंश) नहीं हो सकते । क्योंकि सृष्टि के पूर्व में सत वस्तु आत्मा में नाम रूप का अभाव था । जैसे कि जाग्रत के पूर्व सुषुप्ति में समस्त जगत् के नाम, रूप का अभाव अनुभव सिद्ध है । और अब भी प्रतीति मात्र होने से मिथ्या है याने नाम रूप का अभाव ही है और नाम-रूप को ही सृष्टि कहते हैं तथा सृष्टि से पूर्व ब्रह्म में नाम-रूप नहीं हो सकते । इस से यह सिद्ध हुआ कि आकाश के समान सत रूप आत्मा निरवयव ही है । यहाँ यह अनुमान है कि सत वस्तु आत्मा स्वगत भेद शून्य उसी प्रकार है जैसे आकाश अवयव रहित भेद शुन्य है ।

यदि कहें कि स्वगत भेद आत्मा में नहीं है किन्तु नाना आत्मा होने से सजातीय भेद तो है, किन्तु यह कहना भी अखण्ड आत्म तत्त्व को न जानने से ही है । जैसे एक ही सूर्य अथवा चन्द्रमा नाना जल से भरे पात्र या शुद्ध दर्पणादिक उपाधि के कारण नाना रूप भासित होने पर भी आकाश में स्थित सूर्य, चन्द्र एक ही है । इसी प्रकार आत्मा से दूसरा आत्मा न होने से सजातीय भेद भी सत स्वरूप आत्मा में नहीं है ।

यदि कहें कि विजातीय माया तो है ही, सो यह कल्पना भी असंगत है । क्योंकि सत का विजातीय असत होता है और असत का मतलब ही जो 'नहीं है' । तब जो स्वरूप से है ही नहीं ऐसी मिथ्या कल्पित माया सत् रूप आत्मा के साथ विजातीय सबन्ध भी कैसे सिद्ध हो सकता है ? अस्तु आत्म ब्रह्म में विजातीय भेद भी नहीं है । इसलिये एक अद्वितीय सत वस्तु अपना आत्म ब्रह्म सिद्ध हुआ । "***सदेव सौम्येदमग्र आसीत***" इस श्रुति प्रमाण से

तथा अनुमान युक्ति द्वारा ।

यदि यह शंका करें कि एक अद्वितीय वस्तु में ''था'' इस भूतकाल बोधक शब्द का उपयोग क्यों किया ? आत्मा में तो काल की गति नहीं है । इससे पहले सत हुआ या सत था यह कहना नहीं बन सकता । हाँ यह बात ठीक है कि ब्रह्म में काल का अभाव है किन्तु यह बात किसी तत्त्वज्ञानी को उपदेश रूप तो नहीं कही है । बल्कि यह कहना काल की वासना से युक्त शिष्य के प्रति ही है । अर्थात द्वैत की वासना से युक्त श्रोताओं के ज्ञानार्थ श्रुति की ''एक अद्वितीय ब्रह्म था'' इस प्रकार प्रवृत्ति है । तात्पर्य यह है कि द्वैत भाषा से ही शंका समाधान होता है । और अद्वैत भाषा याने परमार्थ में न शंका है न उसका उत्तर किन्तु एक अद्वैत ब्रह्मात्म रूप तत्त्व ही है ।

आत्मा मन से भी जानने को अशक्य है । यह नित्य प्रकट है तथा आकाश की तरह व्यापक है कहने के अयोग्य होने से अप्रकट अर्थात् किसी इन्द्रियों के द्वारा जानने में न आने वाला है । शुन्य से विलक्षण सत् रूप जिसको ''यह है'' ऐसे कहकर नहीं दिखा सकते ऐसा द्वैत की निषेध का अवधि रूप जो शेष साक्षी अपना आत्मा है वही ब्रह्म है ।

प्रश्न - १९ : परमाणु पर्यन्त नाश रूप होने से भूमी आदि भूत सत्य नहीं है किन्तु आकाश सत्य है या नहीं ?

उत्तर : हे आत्मन् ! जगत् से अत्यन्त रहित यदि आकाश तेरी बुद्धि से सत रूप से स्थित होता है तो फिर ऐसे ही आकाश से रहित सत ब्रह्म तेरी बुद्धि में क्यों नहीं आता ? यदि तू कहे कि आकाश को तो जगत् से रहित हम अपनी आँखों से जगत् के ऊपर तम्बु की तरह, कड़ाव की तरह देखते हैं किन्तु आत्मा को इस प्रकार जगत् से पृथक् नहीं देख पाते हैं । किन्तु तेरा ऐसा कहना भी अज्ञान ही है । अरे पागल ! प्रकाश व अन्धकार को छोड़ कभी तूने आकाश को देखा है । ? अर्थात् आकाश का प्रत्यक्ष कभी नहीं हो सकता । यदि तू दुराग्रह करे कि आत्मा का भी तो प्रत्यक्ष नहीं होता

सो यह कहना भी तेरा ठीक नहीं, क्योंकि 'मैं हूँ' यह सत तो सबके अनुभव से सिद्ध है । याने 'मैं हूँ' रूप से सत् ब्रह्म की तो सबको सामान्य रूप से प्रतीति होती ही है । इस प्रकार ''मैं हूँ'' रूप से सत ब्रह्म को सब जानते ही हैं तथा 'मैं हूँ' का ज्ञान सभी मनुष्यों को सुगम है, क्योंकि मन से रहित सबका साक्षी रूप सत् आत्मा स्वयं प्रकाश है । उसे अपने बोध के लिये अन्य मन, बुद्धि, आदि के प्रकाश की जरूरत नहीं है ।

यदि कहो कि बुद्धि के अभाव में परमार्थ दशा का कैसे बोध होगा ? सो ठीक नहीं है, क्योंकि इस सत आत्मा को स्वप्रकाशता होने से सत का ज्ञान हो जावेगा । यदि कहें कि तुष्णीभाव (मौन) दशा में जो शून्यता का अनुभव होता है उसे ही सत वस्तु क्यों न मान ली जावे । सो ठीक नहीं, क्योंकि शून्यता का जो अनुभव कर रहा है वह सत वस्तु आत्मा उससे पृथक् प्रकाश रूप हमें अनुभव में आता है । बुद्धि द्वारा विचार काल में शून्यता का अभाव हो जाने से शून्यता सत ब्रह्म नहीं हो सकती । क्योंकि शून्यता परप्रकाश है, स्व प्रकाश नहीं है । यह ध्यान-समाधि भी पुरुष द्वारा जानी जाती है अतः वह दृश्य है एवं एक देशिक है, सब समय उसका अभाव है । इसलिये सत्य नहीं है ।

इस प्रकार प्रपंच से रहित साक्षी तुष्णी अवस्था में भी शून्यता का प्रकाशक रूप से विद्यमान रहता है ।

प्रश्न - २० : माया का स्वरूप कैसा है तथा वह ब्रह्म के सर्व देश में है या एक देश में है ?

उत्तर : माया तत्त्व से रहित और कार्य द्वारा जानने योग्य अर्थात् आकाश आदि भूतों की उत्पत्ति का जो सामर्थ्य रूप शक्ति है उसको माया कहते हैं । कार्य के पूर्व कारण की शक्ति का ज्ञान किसी को भी नहीं होता है । इसलिये माया कार्यों द्वारा जानी जाती है । वह न सत है न असत, बल्कि सत-असत से विलक्षण अनिर्वचनीय रूप है । सत के संबन्ध से ही मायाकी सिद्धि है ।

यह स्वतः सिद्ध नहीं है क्योंकि यह घड़ा है कि तरह जड़ एवं दृश्य होने से । यह जगत् के कारण रूप सत आत्मा से पृथक् है । लेकिन माया की स्वतः कोई सत्ता नहीं है । इससे शून्य के समान अंधकार रूप, अभाव रूप माया से द्वैत की सिद्धि भी नहीं होती है । अर्थात् मिथ्या वस्तु से ब्रह्म की अद्वैतता का विरोध नहीं होता है ।

सत रूप ब्रह्म की माया शक्ति ब्रह्म के एक देश में है । श्रुति यजुर्वेद अ.३१ में कहा है कि सम्पूर्ण भूत इस ब्रह्म का एक पाद है और वह स्वयं प्रभु विपाद है तथा स्मृति में भी कहा है कि -

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्न मेकांशेन स्थितो जगत् ।

- गीता - १०/४२

मैं इस संपूर्ण जगत् की एक अंश से व्याप्त करके स्थित हूँ । अंश का निरूपण देख यह नहीं समझना चाहिये कि ब्रह्म निरवयव नहीं है । जिज्ञासु द्वारा प्रश्न के अनुसार ही उसकी भाषा से श्रुति ने उत्तर दिया है, क्योंकि जिज्ञासु ने प्रश्न किया है कि अंश रहित ब्रह्म में शंका आरोप करके ''ब्रह्म के संपूर्ण अंश में माया है या एक अंश में है ?'' इस प्रकार पूछने पर शिष्य को कहा है कि नहीं ब्रह्म के एक अंश में है । किस प्रकार से ? जैसे कि घट बनाने की क्षमता सपूर्ण मिट्टी तत्त्व में नहीं है किन्तु किसी चिकनी मिट्टी के पिंड में ही है । इसी प्रकार 'वह अनादि कल्पित माया शक्ति सपूर्ण ब्रह्म में नहीं रहती किन्तु ब्रह्म के एक देश में ही रहती है ।

यह मिथ्या माया शक्ति, सत वस्तु में नाना प्रकार के भेदों की, कार्यों की, विकारोंकी उस प्रकार से कल्पना करा देती है जिस प्रकार दीवार (भीत) में रक्त, पीत, श्याम, श्वेत, नीलादि रंग नाना प्रकार के चित्रों की कल्पना करा देते हैं । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार चित्रों से दीवार (भीत) पृथक् है उसी प्रकार हमारा-आपका आत्मा भी समस्त प्रतीतियों से, विकारों से, कार्यों से पृथक् है । और जैसे भीत के ऊपर रंग आच्छादित होकर भित्ति

दीवार की सत्ता होने पर भी अध्यस्त चित्र अपने अधिष्ठान दीवार का बोध नहीं होने देते । उसी प्रकार माया जो अपने अधिष्ठान शुद्ध ब्रह्म में अध्यस्त होने पर फिर भी अपने अधिष्ठान ब्रह्म का बोध नहीं होने देती । माया का स्वभाव विपरीत रूप दिखाना है । अर्थात् मा = नहीं; याने जो न हो उसे दिखाना यह माया का ही स्वरूप है ।

संसार में सीप का सीप रूप वास्तविक है वह तो नेत्र प्रमाण से यथार्थ जाना जाता है और उसमें जो रजत (चाँदी) अभ्रक, कांच आदि अन्यथा रूप प्रतीत होते हैं वह भ्रम से याने अविद्या द्वारा होता है । अविद्या माया, अज्ञान, भ्रम, सब एक ही शब्द के पर्याय शब्द है । अतः ब्रह्म निरवयव एवं अद्वितीय ही है ।

प्रश्न - २१ : भ्रान्ति की निवृत्ति किस प्रकार होगी ?

उत्तर : तत्त्वज्ञान से पूर्व जो सत ब्रह्म नाम, रूप माया उपाधि द्वारा नाना रूपों में सत्य-सा प्रतीत होता रहता था और अधिष्ठान सत ब्रह्म अदृश्य हो रहा था किन्तु अब सद्गुरु कृपा द्वारा तत्त्वज्ञान हो जाने पर जगत भ्रम निवृत्त हो एक ही सद् ब्रह्म सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है । अर्थात् पांच भौतिक नाम, रूपों का अभाव निश्चय कर पुनः वही अधिष्ठान एक अद्वितीय सत ब्रह्म रूप ही प्रतीत होने लगता है । याने श्रुति के अर्थ का विचार करने से यथार्थ ज्ञान हो जाता है एवं भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है । इस में स्मृति का कथन प्रमाण है -

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमस‘शस्त्रेण दृढेन छित्वा ।।

- गीता १५/३

अर्थात् अविचार काल में इस संसार वृक्ष का स्वरूप जैसा विस्तार वाला दिखता है एवं जैसा लय चिन्तनार्थ उत्पत्ति क्रम शास्त्रों में कल्पित रूप में वर्णन किया है वैसा श्रुति के अर्थ का विचार करने पर नहीं पाया जाता ।

क्योंकि न तो इसका आदि का पता है कि यह कब से प्रारम्भ हुआ है तथा बिना तत्त्वज्ञान हुए इसका अन्त भी नहीं पाया जाता और न यह अच्छी प्रकार से स्थित ही है, क्योंकि समस्त चराचर पदार्थ प्रति क्षण अन्यथा रूप को प्राप्त होते ही रहते हैं। प्रत्येक वस्तु क्षणभंगुर एवं नाशवान होने से बदल रही है। इसलिये इस अहंता और ममता रूप अति दृढ़ मूल वाले विराट पिप्पल के वृक्ष रूप संसार को दृढ़ असंगता एवं साक्षीरूप शस्त्र द्वारा काट दे। देह एवं देह के सम्बन्ध से 'मैं तथा मेरापन' का त्याग करना ही संसार वृक्ष को मूल सहित काटना है। बिना सद्गुरु के कोई जीव भ्रन्ति से मुक्त कदापि नहीं हो सकता।

प्रश्न - २२ : आकाश सत है अथवा असत ? ज्ञानी को प्रपंच दिखता है या नहीं ?

उत्तर : नसतो विद्यते भावो न भावो विद्यते सतः

- गीता : २/१६

"सत वही होता है जो सब में सब समय विद्यमान रहे।" जैसे एक अखण्ड ब्रह्म वायु, तेज, आकाश, आप तथा पृथ्वी आदि समस्त प्रंपचका अधिष्ठान है उसी प्रकार आकाश सर्वाधिष्ठान नहीं है। आकाश अध्यस्त है तथा सत वस्तु आत्मा अधिष्ठान धर्मी है। धर्मी धारण करने वाले अधिष्ठान को कहते हैं जो सत होता है। तथा अध्यस्त आकाश असत् है। अब यदि कहो कि आकाश असत है तो प्रतीत क्यों होता है ? तो उसके प्रतीत होने में तत्त्वदर्शी को कोई आपत्ति नहीं होती है।

जिस ज्ञानीने एकबार अन्वय-व्यतिरेक द्वारा सत-असत् विवेक से अपने को सत्यआत्मा रूप एवं जगत को मिथ्या रूप जानलिया फिर उसे अज्ञानी की तरह जगत प्रपंच प्रतीत होने पर भी वह निश्चय से यह जानता है कि यह मिथ्या है। यदि स्वप्न अवस्था के हाथी, घोड़ा, नगर ज्ञानी को न दिखे तब तो जाग्रत प्रपंच की भी प्रतीति नहीं होना चाहिये। किन्तु ज्ञानी को

स्वप्न तो दिखता है । अतः जाग्रत में भी उसे मिथ्या प्रपंच स्वप्नवत् दिखते रहने से उसकी कोई हानी नहीं है ।

तत्त्व विचार द्वारा जब आकाश और सत का भेद चित्त में अच्छी तरह बैठ जावेगा तो फिर आकाश कभी भी सत्य प्रतीत नहीं होगा और यह भी बोध हो जायेगा कि सत्य ब्रह्म में आकाश जैसी कोई वस्तु नहीं है ।

यह सद् वस्तु छिद्र रहित है अर्थात् आकाशादि रहित पूर्ण असंग, अखंड, अद्वय है ।

इस प्रकार जब आकाश का मिथ्यापन और सतवस्तु का सत्यत्व भले प्रकार चित्त में जम जाये तो इसी न्याय शैली अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक द्वारा वायु आदि चारों भूतों एवं उसके समस्त कार्यों से सद् वस्तु अपनी आत्मा को भिन्न करके जान लेना चाहिये ।

प्रश्न - २३ : वायु का सद्वस्तु से परम्परागत तादात्म्य सम्बन्ध किस प्रकार है ?

उत्तर : सद्वस्तु के किसी एक देश में माया पड़ी है और माया के किसी एक देश में आकाश स्थित है । उस आकाश के भी एक देश में वायु की कल्पना है याने आकाश उपहित चेतन से उत्पन्न कार्य भूत वायु कल्पित है । और आकाश स्वयं ब्रह्म में कल्पित है । एक कल्पित वस्तु दूसरी कल्पित वस्तु का अधिष्ठान नहीं हो सकती यह नियम है । अतः जो वायु, आकाश उपहित चेतन के एक देश में है उसके चार धर्म है । शोष (सुखाना), स्पर्श, गति, वेग है । इनमें कारण रूप आकाश के, कार्य रूप वायु में क्रमश तीन स्वभाव है । सत्ता, मिथ्यापन और शब्द है । आकाश के यह परम्परा गत संबन्ध वायु में है । 'वायु है' इस कथन में ब्रह्म की सत्ता झलकती है । वायु को सत वस्तु से पृथक् कर लेने पर जो मिथ्यात्व है वह वायु में अपने परम्परा-गत कारण माया का धर्म है तथा वायु में प्रतीत होने वाला सी-सी शब्द अपने कारण आकाश से आया हुआ है ।

अतः वायु में जितना सत अंश है वह ब्रह्म रूप है । शेष अंश मिथ्यापना यह माया का है । शब्द उस में आकाश का तथा स्पर्श स्वंय वायु का धर्म है । यह वायु आकाश के समान निस्तत्त्व रूप है याने ब्रह्म से पृथक् सत्ता वाली नहीं होने से मिथ्या ही है । इस प्रकार चिरकाल तक वायु को मिथ्या रूप बुद्धि में निश्चय करके ''वायु सत्य है'' यह भ्रान्ति को दूर करले ।

प्रश्न - २४ : सत वस्तु का तेज में किस प्रकार से परम्परागत धर्म आया है ?

उत्तर : वायु के दसवे भाग के बराबर यह तेज तत्त्व वायु के एक देश में याने वायु उपहित चेतन के एक देश में स्थित है । अग्नि भी वास्तविक पदार्थ नहीं है । यह भी वायु उपहित चेतन में कल्पित है । पुराणों में इन आकाश, वायु आदि पाँच भूतों में क्रम से **X!/10** भाग (दशम भाग) कम होने का वर्णन है ।

अग्नि उष्ण और प्रकाश रूप है और इस अग्नि में भी अपने पूर्वोक्त कारणों के धर्म की अनुगति हो रही है । अर्थात् सत, माया, आकाश, वायु, इन चार कारणों के अंश क्रमशः अस्तित्त्व, मिथ्यात्व, शब्द और स्पर्श ये चार धर्म अग्नि में अपने कारणों से आये हैं । इसीलिये कहा जाता है अग्नि है, मिथ्या है, शब्दवान है, और स्पर्शवान है । इनमें से अग्नि का अपना धर्म तो रूप ही है ।

अतः इन समस्त धर्मों में सत को छोड़कर समस्त धर्म मिथ्या है, इस बात को बुद्धि द्वारा निश्चय कर बुद्धि से ''अग्नि सत्य है'' यह भ्रान्ति छोड़ देना चाहिये ।

प्रश्न - २५ : जल तथा पृथ्वी में सत वस्तु का किस प्रकार विवेक किया जावे ?

उत्तर : सत से अग्नि को अलग कर लेने और अग्नि के मिथ्यात्व दृढ़

निश्चय हो जाने पर यह चिन्तन करना चाहिये कि जल भी अग्नि से दश अंश कम है और यह अग्नि उपहित चेतन में कल्पित है । जल कार्य में उसके देजादि कारणों के धर्मों की अनुगति होने से ही ''यह जल है'' यह जल मिथ्या है, यह शब्द, स्पर्श और रूपवान है ऐसा कहा जाता है । किन्तु जल का अपना धर्म केवल रस ही है ।

विचार द्वारा सत से जल को अलग कर लेने और उसके मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर फिर यह निश्चय करे कि भूमि भी जल से दश अंश न्यून है और वह भी जल उपहित चेतन में कल्पित है ।

''यह भूमि है'',''यह निस्तत्व है'' इसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये गुण हैं । भूमि का अपना गुण तो केवल गंध ही है । शेष गुण तो उसके कारण रूप जल, तेजादि दुसरों से आये हैं । याने सत, माया, आकाश, वायु, तेज, तथा जल के क्रमशः सत, मिथ्या, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गुण (धर्म) है । विचार द्वारा सत वस्तु से पृथ्वी को अलग कर लेने पर पृथ्वी मिथ्या रह जाती है ।

प्रश्न - २६ : सत वस्तु से ब्रह्माण्ड (संसार) आदि का विवेक किस प्रकार करना चाहिये ?

उत्तर : पृथ्वी से भी दश अंश कम में चौदह लोक (सात ऊपर सात नीचे) स्थित है । और इन लोकों में कर्मानुसार प्राणियों के रहने की व्यवस्था देहानुसार है । इन चौदह ब्रह्माण्ड तथा समस्त प्राणियों में से सत वस्तु आत्मा को पृथक् कर लेने पर यह सब चौदह भुवन प्राणी देहादिक मिथ्या शेष रहजाते हैं । यदि विवेक द्वारा समस्त नाम, रूप दृश्य जगत को मिथ्या जान लेने पर भी प्रतीति होती रहती है । तो उससे ज्ञान का विरोध नहीं है । बोध रूपी सम्राट द्वारा मारे हुए रण संग्राम में शत्रुओं के शव पड़े दिखते रहे उससे सम्राट का गौरव ही है किन्तु हानि नहीं हो सकती है । अर्थात् असत् संसार आदि का भान होने पर भी अपने अद्वैत आत्म सत् वस्तु की कोई हानि

नहीं है । अथवा जैसे मृगजल की प्रतीति से उसके अधिष्ठान पृथ्वी को वह जल गीला नहीं कर सकता अथवा सिनेमा के पर्दे पर दिखाते अग्नी के विस्फोट से पर्दे की हानि नहीं होती ऐसे ही जगत् की प्रतीति से उस तत्त्वदर्शी के ज्ञान का बाध नहीं होता । याने भलेप्रकार विवेक द्वारा सत वस्तु ''अपना आत्मा अद्वैत रूप ही है ।'' यह निश्चय हो जाने पर बुद्धि अन्य विपरीत भाव को ग्रहण नहीं करती है ।

प्रश्न - २७ : ज्ञानी को जगत् के मिथ्यात्व का बोध होने पर तो देहादिक व्यवहार का लोप होता है या नहीं ?

उत्तर : जब पृथ्वी, जल, तेज आदिक रूपधारी इस द्वैत जगत् को सत अद्वैत वस्तु निज आत्म स्वरूप से पृथक् मिथ्या रूप जान लिया जाता है तब भी उन पृथ्वी आदि में उस-उस निमित्त से जो कार्य जैसा अज्ञान काल में अनुभव में आता था या किया जाता था वह ज्ञानोत्तर भी लोक में वैसे ही ज्ञानी विद्वान को भी प्रतीत होता रहेगा क्योंकि ज्ञानी को विवेक द्वारा जगत् का मिथ्यात्व का निश्चय होने से कोई भूमि आदि भूतों के स्वरूप (आकृति) का नाश नहीं हो जाने वाला है । और यदि समस्त दृश्य प्रपंच का प्रतीति भी नष्ट हो जावे तो फिर ज्ञानी के देह की स्थिति भी नहीं रहेगी तथा न कोई जगत् में ज्ञानी देखने को मिलेगा न ज्ञान सम्प्रदाय जीवित रह सकेगा । क्योंकि जिस क्षण ज्ञान हुआ उसी क्षण संसार का लोप हो जावे तो ज्ञानी का देह पात हो जावेगा । प्रथम तो ज्ञानी होने के लिये अन्य ज्ञानी गुरु पूर्व मिलेगा ही नहीं, क्योंकि वह ज्ञान होने के क्षण ही समाप्त हो जावेगा, किन्तु पूर्व परम्परा पर विचार करते चलेंगे तो विश्व में फिर एक-एक के अभाव से कोई ज्ञानी या ज्ञान नाम की वस्तु ही नहीं रहेगी । अतः यह ध्यान रखना है कि ज्ञान का भासमानता प्रतीति से विरोध नहीं है । ज्ञान व्यवहार को नहीं रोकता है वह तो भ्रान्ति का नाशक है ।

ज्ञान अज्ञान, संचित व क्रियमाण का तो विरोधी है किन्तु प्रारब्ध कर्म

से प्राप्त देहादिक भोग, रोग प्रतीति रूप जगत् का विरोधी नहीं है । क्योंकि ज्ञान का उपदेश कर्ता जो गुरु है वे ज्ञानी हैं और देह बिना उपदेश संभव भी नहीं हो सकता है । और देह की स्थिति प्रारब्ध कर्म द्वारा ही होती है । यदि प्रारब्ध कर्म का भी ज्ञान विरोधी होता तो फिर संसार में ज्ञानी उपदेश कर्ता का ही अभाव हो जाता तो फिर श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास आदि में अनेक याज्ञवलक्य, उद्दालक, वशिष्ठ, वाल्मिकी, पराशर, वेदव्यास, जनक, शुकदेव, कृष्ण, अर्जुन, उद्धव, राम, हनुमान आदि अद्वैत ज्ञान निष्ठ ज्ञानी पुरुषों ज्ञान के संप्रदाय को प्रवृत्त करने वाले अनेक हुए हैं उनके नाम इतिहास भी सुनने, पढ़ने को नहीं मिलता किन्तु ऐसा तो नहीं, बहुत ज्ञानियों का इतिहास प्राप्य है ।

भेद इतना है कि जो कर्म ज्ञानोदय के पूर्व तुच्छ देहाभिमान कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि से किये जाते थे । वे ज्ञानोत्तर काल में दृश्य रूप हो जाते हैं और अपनी आत्मा की अमरता, सच्चिदानन्द रूपता, सर्वात्म्यता एवं नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त अकर्ता-अभोक्ता जानकर देहादिक से होते हुए अनुभव आँखों से दिखते रहते हैं ।

प्रश्न - २८ : द्वैत बुद्धि निवृत्ति करने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर : द्वैत बुद्धि के तिरस्कार का यह लाभ होता है कि जब साधक की बुद्धि में द्वैत मिथ्यात्व दृढ़ रूप से निश्चय होता है तभी अद्वैत वस्तु निज आत्मा में प्रीति एवं बुद्धि स्थिर हो जाती है और फिर स्थिर बुद्धि पुरुष जीवन-मुक्त कहलाता है ।

यदि कहो कि संख्य, कणाद, गौतम, बौद्ध मत के भेद का खंडन हो जावेगा तो भले हो, क्योंकि श्रुति युक्ति प्रमाण एवं अनुभव के बल से सिद्ध अद्वैत कि उन लोगों ने भी अवज्ञा (तिरस्कार) किया है तो इसी प्रकार श्रुति युक्ति एवं अनुभव से स्वतः उनके द्वैत का खण्डन हो तो इसने हमारी क्या हानि है । हम तो उनके द्वैत के खंडन का प्रयत्न नहीं करते, क्योकि हम भी

तो व्यवहारिक भेद का मानते ही हैं ।

अतः द्वैत बुद्धि का तिरस्कार से केवल जीवन्मुक्ति ही फल नहीं मिलता बल्कि विदेह मुक्ति भी स्मृति प्रमाण है ।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामंत कालेऽपि ब्रह्म निर्वाण मृच्छति ।।

- गीता : २/७२

अर्थात् हे आत्मन ! मैं सत वस्तु रूप ब्रह्म हूँ इस प्रकार अद्वैत में जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई वह फिर अपने आत्म स्वरूप में भ्रान्त नहीं होता । यहाँ श्लोक में अन्तकाल का अर्थ शरीर नाश से नहीं है अपितु सत रूप अद्वैत निज आत्मा और मिथ्या रूप द्वैत में जो अनन्योध्यास (एक दूसरे का परस्पर धर्म) रूप एकता का ज्ञान रूप भ्रम हो रहा था, उस एकता के भ्रम ज्ञान का अन्तकाल अर्थात् सत अद्वैत और मिथ्या द्वैत को क्रमशः सत्य और मिथ्या जानकर उन में भेद समझाना ही अन्तकाल है । वस्तु के अवधि को, स्वरूप को जानना ही उसका अन्तकाल कहलाता है ।

क्योंकि जिसकी बुद्धि अद्वैत तत्त्व का निश्चय कर के प्रारब्ध वश भूल भी जावे तो उसका ज्ञान का बाध उसी प्रकार नहीं हो पाता, जैसे पढ़े हुए वेद का विस्मरण प्रति रात्री स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं में विस्मरण होने पर भी अगले दिन में वह पुनः वैसा ही ताजा हो जाता है । भुला हुआ नहीं होता अर्थात् उसकी स्मृति बनी रहती है । वैसे ही तत्त्व का अनुसंधान न होने पर भी विद्या (ज्ञान) का नाश नहीं होता है । इसके होने प्रमाणार्थ शिवगीता के अध्याय १३ के श्लोक ३४ में भगवान शिव रामजी को कहते हैं ।

तीर्थे चाण्डाल गेहे वा यदि वा नष्ट चेतनः ।
परित्यजन्देहमेवं ज्ञानादेव विमुच्यते ।।

तीव्र प्रारब्ध वश यदि अद्वैत तत्त्व में स्थिर बुद्धि वाला ज्ञानी का शरीर

पात चाण्डाल के घर में या तीर्थ में हो उसके लिये दोनों समान ही है । यदि वह अपने स्वरूप की स्मृति को भूल जावे तो भी देह पात के पश्चात उसका विदेह मोक्ष अवश्य ही होता है, क्योंकि ज्ञान के क्षण से ही वह मुक्त ही है । इसी भाव को पंचदशीकार श्री विद्यारण्य स्वामी जी प्रकरण २ के १०६ श्लोक में कहते हैं । -

नीरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुठन्भुवि ।
मुर्च्छितो वा त्यजत्वेष प्राणान्भ्रान्तिर्न सर्वथा ॥

अर्थात् जिस ज्ञानी की अपने आत्म स्वरूप में सत्यता की बुद्धि स्थिर हो चुकी है वह चाहे निरोग होकर बैठे-बैठे, चाहे रोगी होकर, भूमि पर पड़ा-पड़ा या मूर्च्छावस्था में प्राणों का त्याग करे उसकी मुक्तता में किंचित भी संशय नहीं करना चाहिये । वह सर्वथा मुक्त ही है ।

ज्ञानी चाहे ''ब्रह्म वाहं'' (मैं ब्रह्म हूँ) या राम-राम कहता हुआ या पीड़ा से व्याकुल हो हाय !हाय ! ओये माँ, आरे बापरे रूप उच्चारण करता हुआ ही प्राणों को क्यों न त्याग करे, वह चाहे काशी आदि पवित्र स्थान (देश) में अथवा मघाक्षेत्र आदि अपवित्र स्थान में, उत्तरायण आदि उत्तम काल में अथवा दक्षिणायन आदि निकृष्ट काल में प्राण त्याग करे, परन्तु उसको मैं देहादिक हूँ, जीव हूँ, कर्ता-भोक्ता हूँ, पापी-पुण्यात्मा हूँ आदि किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं होती । तात्पर्य यह है कि ज्ञानी के व्यवहार एवं देहत्याग में कोइ नियम नहीं है । अस्तु जैसे रात्रि के स्वप्न व सुषुप्ति में हमारा व्यवहारिक ज्ञान दूसरे जाग्रत में नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार मूर्च्छा, सन्निपात आदि के कारण तत्त्व विचार न कर सकने पर भी ज्ञानी का ज्ञान उसी प्रकार स्थित रहता है जैसे जाग्रत का पढ़ा पाठ विद्यार्थी के स्वप्न, सुषुप्ति में स्थित रहकर दूसरे दिन उसी प्रकार स्मृति में ताजा बना ही रहता है ।

तत्त्वमसि आदि प्रमाणों से उत्पन्न हूई ब्रह्म विद्या (ज्ञान) प्रबलतर प्रमाणों के बिना नष्ट नहीं हो सकती और वेदान्त से प्रबलतर दूसरा प्रमाण

दिखाई नहीं देता। आज करीब १८०० बर्ष हुए श्री शंकराचार्य जी महाराज के द्वारा अद्वैत मत का पुनरोत्थान होने को, किन्तु उनके वेदान्त के प्रबलतर अद्वैत मत को कोई भी प्रकट रूप से खंडन कर, द्वैत को सिद्ध नहीं कर पाया है।

इस से यह सिद्ध होता है कि वेदान्त द्वारा सिद्ध अद्वैत की बाधा शरीर नाश पर नहीं होती है। इस प्रकार सत आत्मा में पंचभूतों के शरीर को पृथक् एवं मिथ्यात्व निश्चय करने से जीव परम सुख रूप मोक्ष को अवश्य प्राप्त होता है। उसमें तनिक भी संशय नहीं है।

नाहं देहो नेन्द्रियाण्यन्तरंगम् नाहंङ्कारः प्राणवर्गो न बुद्धिः ।
दारापत्य क्षेत्रवित्तादिहीनः साक्षी नित्यः प्रत्यगात्मा शिवोऽहम् ॥

अर्थात् देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण वर्ग, स्त्री, पुत्र, भूमि और धन संपत्ति से रहित साक्षी, नित्य, प्रत्यक् तत्त्व, शिव मेरा स्वरूप है। इस प्रकार असं-भावना और विपरित भावना को दूर करके एक आत्मभाव होने का नाम ही मोक्ष है।

नाहं मनुष्यो न च देव यक्षो न ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शुद्रः ।
न ब्रह्मचारी न ग्रही न वनस्थो भिक्षुर्न चाहं निज बोध रूपः ॥

अर्थात् देव, मनुष्य, यक्ष, किन्नर, राक्षस, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थि, वानप्रस्थी तथा संन्यासी आदि समस्त बाह्य उपाधि से रहित उनका साक्षी मैं ज्ञान रूप आत्मा हूँ। ऐसी स्वरूपावस्थिति ही मुक्ति है।

जो अपने आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानते हैं वे परब्रह्म में अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व मानते हुए भी अनर्थ (जन्म-मरण) से कभी भी निवृत्त नहीं हो सकते। अस्तु अनात्म पदार्थों को अन्वय, व्यतिरेक द्वारा बाध करते-करते जो शेष रह जाये याने बाध का साक्षी मात्र रह जाये वही अपना आत्मा है,

ऐसा जाने ।

प्रश्न - २९ : ब्रह्म को सब शास्त्रों मे गुहा में स्थित बताने का क्या कारण है ?

उत्तर : तैतरीय उपनिषद में इस प्रकार कहा है -

यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्

वाक्य में ब्रह्म को जिस गुहा में बतलाया है वह गुहा शब्द का वाच्यार्थ अन्नमयादि पंचकोशों के विवेक से जाना जा सकता है ।

देह अन्नमय कोश से प्राणमय कोश भीतर का है । प्राणमय कोश से मनोमय भीतर का है । मनोमय कोश से कर्ता अर्थात् विज्ञानमय कोश भीतर का है । उस विज्ञानमय कोश के भीतर आनन्दमय कोश है । इस प्रकार यहाँ तक की परम्परा 'गुहा' कहलाती है और आत्म ब्रह्म इन के भी पीछे इनका साक्षी द्रष्टा रूप से विद्यमान है । ये पंचकोश उसे छिपाकर रखनेवालें हैं इसलिये गुहा कहलाते हैं । वैसे तो पाँच कोशों में ब्रह्म ही प्रत्यागात्मा रूप से विद्यमान है । पंचकोश की स्थिति भी आत्म ब्रह्म से ही है । ब्रह्मात्मा तो व्यापक है, सर्व का अधिष्ठान है, सव का आत्मा सर्वत्र है । अतः यह नहीं जानना चाहिये कि पंचकोश में आत्मा का वास नहीं होगा । नहीं वह सर्वत्र है, किन्तु ये कोश आवरण रूप होने से जीवात्मा को अपना स्वरूप प्रतीत नहीं होता ।

प्रश्न - ३० : अन्नमय कोश किसे कहते हैं तथा वह ही आत्मा क्यों नहीं है ?

उत्तर : माता-पिता के खाये अन्न से उत्पन्न रज-वीर्य से जो पैदा होता है और जन्म के पश्चात् दूध अन्नादि भोजनों से ही जो बढ़ता है और रहता है वह अन्नमय देह ही अन्नमय कोश है । यह अन्नमय देह आत्मा नहीं हो सकता है, क्योंकि जन्म से पहले और मरण के पश्चात् यह देह नहीं रहता है

। इस प्रकार उत्पत्ति नाशवान कार्य रूप देह घटवत् जड़ होने से आत्मा नहीं हो सकता है ।

यदि देह को आत्मा मान लिया जाये तो जो पूर्व जन्म में देह था वह तो वहीं समाज द्वारा जला दिया गया तथा उस शरीरात्मा द्वारा अन्त समय तक किये शुभाशुभ कर्मों के फल भी नहीं भोग सकेगा तथा इस जन्म के हेतु शुभाशुभ कर्मों के न होने पर भी याने जो इसने नहीं किया था उसे अब वह अकारण माँ गर्भ से जन्म कर भोग रहा है । इस प्रकार कर्म भोग के विना नाश व विना किये कर्म का भोग यह दो दोष खड़े हो जाते हैं तथा कर्मों के फल तथा स्वर्गादिक लोक की प्राप्ति बतानेवाले वेद प्रमाण में भी विरोध आता है । अतः अकृताभ्यागम दोष व कृतनाश दोष आ जाने व वेद अर्थ के विपरीत होने से देह आत्मा नहीं हो सकता है ।

प्रश्न - ३१ : भले अन्नमय कोश आत्मा नहीं हो किन्तु प्राणों द्वारा जीव का जीवन एवं नाश प्रतीत होता है, अतः प्राणमय कोश ही आत्मा हो सकता है या नहीं ?

उत्तर : जो वायु पैर से लेकर मस्तक पर्यन्त सम्पूर्ण शरीर में पूर्ण होकर व्यान रूप से शक्ति देता हुआ चक्षु आदि इन्द्रियों का प्रेरक है वह वायु प्राणमय कोश है और उसमें चेतना न होने से जड़ रूप है । अस्तु यह भी आत्मा नहीं हो सकता है । क्योंकि वह विकारी एवं क्रियानुरूप मंद तथा चंचल गति वाली होती रहती है । साथ ही अभ्यास द्वारा योगी इस पर काबू भी पा लेता है । ऐसे परप्रकाश्य प्राण को आत्म रूपता नहीं दी जा सकती है । यह तो वायु का विकार मात्र है । किन्तु कोई मूर्ख लोग तत्त्वज्ञान से रहित इन्हीं पाँचों कोशों में से ही किसी एक को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना में लग जीवन नष्ट कर देते हैं एवं पंचकोशों से विलक्षण साक्षी ब्रह्मात्मा को जानने से रह जाते हैं । अतः यह अनात्मा प्राणमय कोश विकारी तथा घटवत् जड़ होने से आत्मा नहीं है । ऐसा जानकर जिज्ञासु इसके आगे के कोशों का

भी ज्ञान कर अपने को वहाँ से मुक्त करता चले ।

प्रश्न - ३२ : मनोमय कोश किसे कहते हैं तथा वह आत्मा है या नहीं ?

उत्तर : जो देह में ''मैं'' भाव और गृहादि में ''मेरा है'' ऐसा अभिमान रूप ममता को करता है वह मनोमय कोश है । वह भी आत्मा नहीं है क्योंकि काम, क्रोध आदि अवस्थाओं में भ्रान्त रहने से याने कभी कामी, कभी क्रोधी, कभी लोभी होने से उसका स्वभाव चंचल विकारी अनियमित होने से आत्मा नहीं है । जैसे देह बाल्य, युवा आदि अवस्थाओं वाला होने से विकारी है । वैसे ही मन एक वृत्ति को छोड़ अन्य वृत्ति को ग्रहण करने वाला होने से विकारी है । इसलिये विकारी, अनियमित, चंचल, मनोमय कोश आत्मा नहीं हो सकता ।

प्रश्न - ३३ : विज्ञान मय कोश का क्या स्वरूप है वह आत्मा है या नहीं ?

उत्तर : चेतन आत्मा के प्रतिविम्ब रूप चिदाभास से युक्त जो बुद्धि सुषुप्ति काल में लीन होकर शरीर में व्याप्त रहती है तथा जाग्रत अवस्था में नखाग्र पर्यन्त शरीर में व्याप्त हो रहती है वह विज्ञानमय कोश कहलाता है । यह भी उत्पन्न तथा लीन होनेवाला होने से, मन्द तीव्र दोष से युक्त होने से विकारी है, घटवत् जड़ होने से आत्मा नहीं है ।

प्रश्न - ३४ : मन तथा बुद्धि दोनों अन्तःकरण की ही वृत्ति है फिर इनके कोश में भेद होनेका क्या कारण है ?

उत्तर : मनोमय कोश तथा विज्ञानमय कोश की कल्पना एक ही अन्तःकरण में होने का कारण यह है कि भीतर की इन्द्रिय मन कभी कर्तारूप याने क्रिया के आश्रय रूप और कभी क्रिया के साधन कारण रूप से परिणत (विकृत) होता रहता है । अतः जब मन कर्तारूप से परिणत हाता है तब विज्ञानमय कोश कहलाता है तथा जब मन क्रिया के साधन कारण रूप से

परिणत होता है तब उसे मनोमय कोश कहते हैं । विज्ञान का अर्थ है निश्चय रूप वृत्ति और मन का अर्थ संशय रूप वृत्ति है । यह मन बाहर इन्द्रियों के साथ जाता है तथा बुद्धि भीतर ही बनी रहती है । इसलिये एक अन्तःकरण के दो कोश कहलाते हैं । किन्तु ये दोनों विकारी जड़ उत्पन्न नाशवान होने से घट की तरह अनात्मा है अतः आत्मा नहीं है । ऐसा निश्चय कर जिज्ञासु को इनसे पृथक् अपने आत्मा को जानना चाहिये ।

प्रश्न - ३५ : आनन्दमय कोश का क्या स्वरूप है तथा इसके आत्मा न होने में क्या हेतु है ?

उत्तर : जब जीव किसी पुण्य कर्म के सुखरूप फल को अनुभव करते हैं तब कोई बुद्धिवृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है और उस पर आत्मस्वरूप आनन्द का प्रतिविम्ब पड़ जाता है । और भोगों के शांन्त होजाने पर वही बुद्धि वृत्ति निद्रा रूप से विलीन अर्थात् संस्कार रूप से हो जाती है, उस वृत्ति को आनन्दमय कोश कहते हैं ।

यह आनन्दमय कोश भी मेध की भाँति कभी-कभी पुण्य फल के कारण होने वाला होता हैं । सदैव नहीं रहता इसलिये आत्मा नहीं है, किन्तु बुद्धि आदि अन्तःकरण की वृत्तियों में प्रतिविम्ब रूप से स्थित प्रिय, मोद तथा प्रमोद रूप आनन्दमय का विम्ब याने कारण भूत विलक्षण आनन्द ही सच्चा आत्मा है, क्योंकि वह सदा बना रहता है, नित्य है । जो आत्मा नहीं है वह नित्य भी नहीं है और जो नित्य होता है वह आत्मा ही होता है । देहादि सदा नहीं होने से अनित्य है । आकाशादि भूत भी उत्पन्न-नाशवान होने से घटवत्, जड़ विकारी होने से आत्मा नहीं है ऐसा विवेक द्वारा जानकर अपने आत्मा को मैं रूप से तथा इन कोशों के साक्षी रूप से जानना चाहिये ।

प्रश्न - ३६ : पंचकोश से पृथक् तो किसी की प्रतीति नहीं होती तब आत्मा किसे कहा जा सकता है ?

उत्तर : यह कहना तो सर्वथा उचित है कि अन्नमय कोश से लेकर आनन्दमय कोश तक यह पाँच कोश ही उपलब्ध होते हैं । अन्य कोई भी पदार्थ उपलब्ध नहीं होता, जिसे आत्मा कहा जा सके, किन्तु जिसके बल से आनन्दमय आदि पंच कोशों की प्रतीति होती है उस अनुभव को ही तुम आत्मा रूप से स्वीकार करो, उसका बाध नहीं कर सकते हो ।

यदि यह शंका करो कि आत्मा तो अज्ञेय, अप्रमेय है याने जाना नहीं जा सकता, किसी प्रमाण का विषय नहीं फिर उसे कैसे माने ? तो उसका समाधान यह है कि नित्य ज्ञान रूप होने के कारण वह स्वयं ही अनुभूति रूप है । इसलिये आत्मा किसी का अनुभाव्य नहीं होता । आनन्दमय आदि का साक्षी आत्मा अनुभाव्य रूप नहीं होने के कारण किसी अन्य के अनुभव का विषय नहीं है । आत्मा से भिन्न अन्य ज्ञाता और उससे भिन्न अन्य ज्ञान नहीं होता इसलिये अज्ञेय कहलाता है ।

आत्मा की असत्ता के कारण आत्मा अज्ञेय है ऐसा श्रुति का तात्पर्य नहीं बल्कि आत्मा से पृथक् ज्ञाता और ज्ञान के अभाव से अज्ञेय और अप्रमेय रूप कहा है । जैसे गुड़ या इमली पदार्थ अपने से दूसरी वस्तु में खटास मिठास उत्पन्न कर देते हैं । किन्तु उन गुड़, नमक, मिर्च, इमली आदि को किसी के मिठास, तीखास, खरास, खटास आदि की अपेक्षा नहीं रहती है । वे कभी यह आशा नहीं करते हैं कि हमें कोई मीठा, तीखा, खारा, खट्टा बना जावे । फिर इन पदार्थों को इनके गुण में वृद्धि करने वाला अन्य कोई दूसरा पदार्थ भी तो नहीं है । अतः जैसे अन्य पदार्थ की अपेक्षा रखे बिना ही ये स्वभाव से मीठे, तीखे, खारे, खट्टे गुणवान हैं । ऐसे ही आत्मा भले ही किसी के अनुभव का विषय न होता तो भी उसमें अनुभव रूपता रहती ही है ।

प्रश्न - ३७ : आत्मा के स्वयं प्रकाश होने में क्या प्रमाण है तथा किस रूप से अनुभव के योग्य है ?

उत्तर : श्रुति, स्मृति अनुभव द्वारा अपना आत्मा स्वयं प्रकाश है । श्रुति कहती है -

अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतलर्भवति

स्वप्न अवस्था में बिना बाहरी प्रकाश के भी समस्त प्रपंच इसी स्वयं प्रकाश आत्मा से होता है ।

अस्मात् सर्वस्मात् पुरतः सुविभाति ।

उस आत्मा के भान के पीछे सारा प्रपंच भासित होता है ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्व तस्य भासा सर्वमिदं बिभाति ।

उस आत्मा के प्रकाश से यह सारा जगत् भासता है । इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा की स्वप्रकाशता को बता रही है तथा -

येनेदं सर्व विजानाति तं केन विजानीयात्
विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता ।।

- बृहदा. उप. २/४/१४, ४/५/१५

अर्थात् जिस साक्षी चैतन्य रूप आत्मा से समस्त प्राणी, सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् को जान रहे है । उस साक्षी आत्मा को लोग किस दूसरे साक्ष्य जड़ से जान सकेंगे ? सब दृश्य पदार्थों को जानने वाले को किस दृश्य साधन से जाने ? अर्थात् किसी से भी नहीं जाना जा सकता है ।

ज्ञान का साधन जो मन है वह ज्ञान के विषय को तो जान सकता है किन्तु बुद्धि उपाधि रूप ज्ञाता आत्मा को नहीं जान सकता है, क्योंकि श्रुति में कहा है '**नैव वाचा न मनसा**' ''न वह मन से और न वह वाणी से ही जाना जा सकता है ।'' स्वयं आत्मा को अपना ही ज्ञेय माने तो वह स्वयं ही विषय (ज्ञेय कर्म) और स्वयं ही ज्ञाता रूप कर्ता होने से परस्पर विरोध (आत्माश्रय दोष) आता है । अतएव आत्मा अनुभव का विषय नहीं है । जिस आँख से

जगत् को देखा जाता है उसी आँख को जगत् रूप (दृश्य) रूप नहीं देखा जा सकता। उसी प्रकार यह आत्मा वेद्य विषय मात्र को जानता है, उसका ज्ञाता दूसरा कोई नहीं है। वह स्वयं प्रकाश बोध स्वरूप है। इसलिये प्रत्येक् अभिन्न ब्रह्म ज्ञान एवं अज्ञानी से विलक्षण अनुभव स्वरूप है।

कदाचित कोई शंका करे कि विदित (ज्ञात) अविदित (अज्ञान) से भीन्न तो कुछ बोध देखा ही नहीं जाता, तो उसका समाधान यह है कि बोध के विषय में जो जानना रूप अनुभव है याने ''कुछ है'' और कुछ भी नही है। इस प्रकार का कथन जिससे सिद्ध होता है वह बोध का अनुभव ही अपना आत्मा है। वह ज्ञात एवं अज्ञात विषय से पृथक् रहकर ही जानता है। यदि उस बोध का अनुभव नहीं मानोगे तो विदित (ज्ञात वस्तु) का भी अनुभव नहीं होगा। इसलिये ज्ञात विषय का अनुभव मानना ही होगा और वह अनुभव बुद्धि द्वारा जाने गये विषय और बुद्धि से नहीं जाने गये ऐसे दोनों विषयों का साक्षी बोध रूप आत्मा स्वयं प्रकाश ही है।

जिस मनुष्य को घट देखकर घट के कहीं भी रख देने के बाद भी जो भीतर घट का ज्ञान स्फूरण वना रहता है उसे ही बोध कहते हैं, और जो मंद बुद्धि को घट आदि के स्फूरण रूप बोध का भी अनुभव (साक्षात्कार) किसी प्रकार नहीं होता। अर्थात् एक बार भली प्रकार घट देखने के बाद भी फिर वह कहे कि मुझे घट का अनुभव नहीं यह किसी प्रकार नहीं हो सकता। उसे ऐसे मनुष्यकार ढेले (जड़) को शास्त्र कैसे समझा सकेगा ? अर्थात् मूर्ख को ज्ञान नहीं हो सकता। उसका घट का अनुभव नहीं होने का कथन उसी प्रकार है जैसे कोई उन्मत्त पुरुष का यह कहना कि ''मेरे मुख मे जीभ नहीं है'' अथवा ''मेरी माँ बाँझिन है'' उसे केवल लजाता ही है, क्योंकि जिह्वा के बिना कथन व मेरी माँ के कथन से बन्धत्व का स्वतः निषेध हो ही जाता है ऐसे ही मैं बोध (घट पटादि पदार्थों के स्फूरण रूप ज्ञान) को अब तक नहीं जानता। उस बोध के अब मुझे जानना है यह कथन भी वेसे ही लज्जाजनक है व्याघात दोष होने से, क्योंकि बोध के बिना यह बात भी नहीं कही जा

सकती है कि मुझे घट पट का स्मरण नहीं होता और यह कथन ही बोध है इसका प्रमाण है ।

प्रश्न - ३८ : ब्रह्म निश्चय का स्वरूप कैसा है ?

उत्तर : लोक में जिन घट पट आदि का नाम वाले विषयों का ज्ञान होता है और उन उन विषयों का दृष्टि से लुप्त (छिप जाना या नष्ट हो जाना) हो जाने पर भी उन घटादि विषयों में जो अन्तःकरण में ज्ञान रूप से स्फूरण है वही ब्रह्म है अर्थात् ऐसी बुद्धि का हो जाना कि जो समस्त घट पटादि विषयों के आकार का ज्ञान रूप स्फूरण है वही ब्रह्मज्ञान या आत्म- साक्षात्कार कहलाता है । इससे अन्यथा वह जानने याग्य नहीं है ।

इस प्रकार बुद्धि से अन्नमयादि पाँच कोश अनात्मा है । ऐसा निश्चय कर लेने पर वह साक्षी प्रत्यक् आत्मरूप बोध ही शेष रहता है । वह साक्षी रूप बोध ही स्वस्वरूप ब्रह्म है । और साक्षीरूप बोध को कोई शून्य नहीं कह सकता । यदि उसे शून्य कहेंगे तो शून्य का जो साक्षी है वही आत्मा है । अपना आपा स्वस्वरूप नाम की वस्तु सबके मत में विद्यमान है । मैं हूँ या नहीं ऐसी भ्रान्ति पागल अवस्था को छोड़ किसी को भी नहीं होती है । यदि कोई यह समझता है कि ब्रह्म असत् है तो वह भी असत् हो जाता है । अतः आत्मा भले ज्ञान का विषय न हो, किन्तु अपनी सत्ता को अपने होने को तो अवस्य मान ही लेना चाहिये ।

यदि आत्मा को ''आत्मा ऐसा है'' इस रूप में स्वीकार करेंगे तो वह दृश्य ठहर जाता है । और ''ऐसा है'' इसको किसी भी रूप में स्वीकार न करें तो फिर वह शून्य हो जावेगा इसलिये श्रुति कहती है आत्मा में ऐसापन, वैसापन नहीं है । बल्कि ऐसापन, वैसापन को जो जानता है वही बोध स्वरूप आत्मा है ।

इन्द्रिय द्वारा जाने गये विषय पदार्थ ऐसा (ईदृक्) शब्द के वाच्य होते हैं और परोक्ष धर्माधर्म स्वर्ग आदि वैसा (तादृक्) शब्द के वाच्य हैं । आत्मा

प्रत्यक्ष तो है नहीं और स्वस्वरूप होने से परोक्षता भी उसमें नहीं ह । अतएव अपना आत्मा (ईदृक्) न ऐसा (तादृक्) न वैसा शब्द का वाच्य नहीं हो सकता । यह आत्मा इन्द्रिय जन्य ज्ञान का अविषय होता भी अपरोक्ष है । इसलिये स्वप्रकाश रूप है । इस प्रकार आत्मा स्वयंप्रकाश सिद्ध हो जाने पर भी तत्त्वमसि आदि महावाक्यों द्वारा यह आत्मा ब्रह्म है । ऐसा अनुभव सच्चिदानन्द आत्मा के लक्षण का ब्रह्म के लक्षण से अभिन्नता होने से मान लेना चाहिये ।

प्रश्न - ३९ : आत्मा में सत्यत्व लक्षण है यह कैसे जाने ?

उत्तर : जिस वस्तु का किसी भी साधन से किसी भी काल में एक क्षण के लिये भी बाध (अभाव) न हो उसी को सत्य कहते हैं । और जो बाध योग्य है वह असत् मिथ्या है । अतः इस पूर्व आचार्यों द्वारा सत असत विवेकानुसार जगत् के बाध का एकमात्र साक्षी आत्मा है, क्योंकि सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि अवस्था में जब स्थूल, सूक्ष्म देहादि रूप यह जगत् नहीं रहता तब उसके अभाव का साक्षी याने उस अभाव को जानने वाला आत्मा ही है । उस आत्मा को किसी ने अभाव रूप नहीं देखा बल्कि अभाव का साक्षी स्वयं आत्मा ही है ।

घर आदि में रखे समस्त पदार्थों को घर से बाहर निकाल देने पर भी निराकार आकाश ही शेष रहता है जिसको कोई नहीं निकाल सकता ।

इसी प्रकार आत्मा से भिन्न सब बाध योग्य मूर्त-अमूर्त देह, इन्द्रिय, अन्तःकरणादि का ''यह भी नहीं है'' यह भी नहीं है (नेति-नेति) इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा निराकरण कर दिये जाने पर अन्त में सब अनात्म पदार्थों के बाध का साक्षी जो बोध (ज्ञान) मात्र शेष रह जाता है वही बाध रहित सत्य आत्मा है ।

यदि कहों कि कुछ शेष नहीं रहता तब आत्मा शेष कहाँ रहेगा

? तो यह समझना चाहिये कि कुछ शेष नहीं रहा इसका अनुभव करने वाला कोई तो साक्षी चैतन्य मानना ही पड़ेगा । वही आत्मा का रूप है । साक्षी चैतन्य तो अबाध्य है इसीलिये यह आत्मा को श्रुति अनात्म पदार्थों का निषेध कर नेति-नेति कथन द्वारा निषेध करने के अयौग्य इस प्रत्यक् आत्म स्वरूप को शेष रख लेती है । यह (इदं) इस प्रकार दृश्य रूप से अनुभूयमान जो भी देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरणादि है वह सबका सब त्यागा जा सकता है । और जो प्रत्यक रूप होने के कारण इदं रूप से (यह) जानने के योग्य नहीं है वही साक्षी आत्मा त्यागा नहीं जा सकता । जो बाध रहित साक्षी है वही सत्य आत्मा है ।

प्रश्न - ४० : आत्मा में ज्ञान रूपता कैसे जाने ?

उत्तर : जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, भूत, भविष्य, वर्तमान, बाल्य, युवा, वृद्ध, समाधि, मूर्च्छा, प्रातः, मध्याह्न, संध्या, रात्रि, दिवस, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष, मनु, युग, कल्पादि को जानने से ज्ञान नित्य है ।

प्रश्न - ४१ : आत्मा अनंत कैसे है ?

उत्तर : श्रुतियाँ ब्रह्म को तो अनंत सिद्ध करती ही है और महावाक्यों द्वारा जीव की ब्रह्म से अभिन्नता भी बतलाती है । अतः ब्रह्म के अनन्त होने व आत्मा के उससे अभिन्न होने से आत्मा भी अनन्त है । देश, काल, वस्तु परिच्छेद शून्य वस्तु ही अनन्त होती है । व्यापक होने से देशकृत अन्त नहीं है, नित्य होने से उसका कालकृत अन्त नहीं है, और सबकी आत्मा होने से वस्तुकृत अन्त नहीं है । ब्रह्म की व्यापकता, नित्यता और सर्वात्मकता में श्रुति प्रमाण -

नित्य विभु सर्वगतहं सुसूक्षमं

- मुण्डक. उप. १-१-६

आकाशवत् सर्वगतहश्च नित्यः

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां

- कठो. उप. २-४-१३

इदं सर्व यदयमात्मा

- बृह. उप. २-४-६

सर्वह्येत ब्रह्म आत्मैवेदं सर्वम्, स एवेदं सर्वम्, अहमेवेदं सर्वम्, ब्रह्मैवेदं सर्वम् - माण्डु. उप. २

श्रुति के ये चार मन्त्र है जो स्पष्ट बतलाते हैं कि मैं, तुम, वह ब्रह्म सब एक ही तत्त्व है । एक प्रत्यक चैतन्य अभिन्न परमात्मा ही परिपूर्ण देश काल वस्तु परिच्छेद से रहित अनन्त है । उस ब्रह्म को माया तथा अविद्या उपाधि से जीव तथा ईश्वर की सज्ञा प्राप्त होती है । ये कल्पित होने से ही जड़ की भाँति जीव ईश्वर भी ब्रंह्म के परिच्छेदक नहीं है । माया में चैतन्य का प्रतिविम्ब रूप चिदाभास जो स्वयं जड़ होते हुए भी सत्य ज्ञान अनन्त लक्षणवाला ब्रह्म ही उससे कल्पित तादात्म्य सबन्ध के कारण ईश्वर बन जाता है ।

तथा पंचकोश रूप उपाधि के साथ तादात्म्य संबन्ध से वही ब्रह्म जो ईश्वर बनता है वही जीव भी बन जाता है । जैसे एक ही समय एक पुरुष अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र है, किन्तु अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता भी है तथा पुत्र के पुत्र का पितामह भी है । ऐसे ही ब्रह्म भी एक समय में पंचकोश रूप उपाधि की दृष्टि से जीव और माया शक्ति रूप उपाधि की दृष्टि से ईश्वर कहलता है । और जैसे पुत्र आदि के न रहने पर मनुष्य किसी का न पिता है न पितामह वैसे ही जब किसी को कोश एवं शक्ति में सत्यता की बुद्धि नहीं रहती अर्थात् जब साधक की दृष्टि इन उपाधिकृत भेद में नहीं पड़ती तब वह ब्रह्म, ईश्वर व जीव कुछ भी नहीं रहता याने एक सत्य ज्ञान आनन्द रूप प्रत्यक अभिन्न ब्रह्म ही रह जाता है ।

प्रश्न - ४२ : पंचकोश विवेक का फल क्या है ?

उत्तर : विवेक, वैराग्यादि चार साधनों से संपन्न अधिकारी जब कल्पित

प्रकार से पाँच कोशों का विवेक करके प्रत्यक आत्मा से अभिन्न सच्चिदानन्द लक्षण ब्रह्म का ''मैं हूँ'' रूप से साक्षात्कार कर लेता है तब वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है और ब्रह्म का जन्म नहीं होता इसलिये वह ज्ञानी को भी स्वात्मा की ब्रह्म रूपता का ज्ञान हो जाने के कारण पुनर्जन्म नहीं होता । श्रुति कहती है -

''**न जायते म्रियते वा विपश्चित्, न स पुनरार्वतते, ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्, स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**'' इत्यादि प्रमाण है ।

अर्थात् तत्त्व ज्ञानी का जन्म-मरण रूप गमनागमन नहीं होता है । ब्रह्म को जानकर परमपद को प्राप्त कर लेता है । ब्रह्म को जानकर ब्रह्म ही हो जाता है ।

प्रश्न - ४३ : चारों वेदों के महावाक्य क्यौन से हैं तथा उनका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर : मुमुक्षुओं को मोक्ष के साधन ब्रह्म ज्ञान की सिद्धि के लिये प्रसिद्ध जो चारों वाक्यों हैं वे इस प्रकार है ।

'**प्रज्ञानं ब्रह्म**' : ऋगवेद की शाखा - ऐत.उप ५-१
'**अहं ब्रह्मास्मि**' : यजुर्वेद की शाखा - वृह.उप. १-४-१०
'**तत्त्वमसि**' : सामवेद की शाखा - छा.उप. ६-८-७
'**अयमात्मा ब्रह्म**' : अथर्व वेद की शाखा - वृ.उप. २-५-१९

मोक्ष का साधन ब्रह्मात्मैकता का ज्ञान इनसे ही होता है ।

प्रश्न - ४४ : प्रज्ञानं ब्रह्म इस महावाक्य से ब्रह्मात्मैकता का बोध किस प्रकार होता है ?

उत्तर : यह पुरुष चक्षु द्वारा बाहर निकली अन्तःकरण की वृत्ति से युक्त जिस चैतन्य से दर्शन योग्य रूप आदि को देखता है, श्रोत्र द्वारा निकली

अन्तःकरण की वृत्ति सहित जिस चैतन्य से शब्द को सुनता है, नासिका द्वारा निर्गत अन्तःकरण की उपाधि सहित जिस चैतन्य से गन्धों को सूंघता है, वाक् इन्द्रियों से युक्त जिस चैतन्य से शब्दों का उच्चारण करता है, रसना इन्द्रिय द्वारा वाहर निकल अन्तःकरण की वृत्ति रूप उपाधि वाले जिस चैतन्य से स्वादु-अस्वादु दोनों प्रकार के रसों को चखता है, अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रिय और अन्तःकरण की वृत्तियों से उपलक्षित (जानने योग्य) जो चैतन्य है वही यहाँ प्रज्ञान शब्द से कहा है । इस प्रकार इन्द्रियों और उसकी वृत्तियों से भिन्न स्वप्रकाश स्वरूप सबके साक्षी सब वृत्तियों से अनुगत एक आत्मा के स्वरूप को प्रज्ञान शब्द से स्पष्ट किया गया है । अब ब्रह्म पद का अर्थ इस प्रकार है ।

ब्रह्मा इन्द्र और देव आदि उत्तम अधम मनुष्य नीच गाय, घोड़ा आदि सब देह धारियों और आकाशादि भूत पदार्थों में जो जगत् के जन्म स्थिति और प्रलय का कारण भूत एक चैतन्य है वह ब्रह्म है ।

इस प्रकार ''प्रज्ञानं ब्रह्म'' वाक्य का अर्थ हुआ कि सर्वत्र अवस्थित रहने वाला 'प्रज्ञान' ही ब्रह्म है । अतः 'मयि अपि प्रज्ञानं ब्रह्म' इसलिये मुझ में भी जो 'प्रज्ञान' है वह भी ब्रह्म है । क्योंकि मेरे और उनके 'प्रज्ञान' की प्रज्ञानता में कोई अन्तर नहीं है । भावार्थ यह है कि जब ब्रह्मा, इन्द्र, देवता, अश्व, गौ आदि में एक चैतन्य ज्ञान ब्रह्म है तो मुझ में भी वही प्रज्ञान रूप ब्रह्म है ।

प्रश्न – ४५ : अहं ब्रह्मास्मि इस महावाक्य से मुमुक्षु कैसे ब्रह्मात्मैकता का ज्ञान करे ?

उत्तर : अहं + ब्रह्म + अस्मि इन तीन पदों से यह अहं ब्रह्मास्मि महावाक्य बना है । 'अहं' का अर्थ है माया से कल्पित इस जगत् में और ज्ञान पाने योग्य इस मनुष्य शरीर में बुद्धि का साक्षी अविकारी रूप से प्रकाशक होकर स्थित स्वभावतः देश काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न

(व्यापक) परिपूर्ण परमात्मा को ही लक्षणा वृत्ति से अहं शब्द प्रकट करता है ।

'ब्रह्म' का अर्थ है स्वतः परिपूर्ण अर्थात् स्वभाव से देश काल वस्तु से अपरिच्छिन्न परमात्मा ही यहाँ लक्षणा से कहा जाता है । 'अस्मि' इस पद का अर्थ है कि अहं तथा ब्रह्म, आत्मा और परमात्मा इन दोनों पदों के समानाधिकरण्य भाव से (एक अर्थ को बताने) से जीव ब्रह्म की एकता का बोध होता है । इस प्रकार महावाक्य का अर्थ है कि ''मैं ब्रह्म हूँ'' ।

प्रश्न - ४६ : 'तत्त्वमसि' महावाक्य से मुमुक्षु ब्रह्मात्मा की एकता किस प्रकार जाने ?

उत्तर : तत् + त्वं + असि इन तीन पदों से संयुक्त यह महावाक्य बना है । तत् पद का अर्थ है सृष्टि से पहले जो सत ब्रह्म नाम, रूप, स्वगत, सजातीय व विजातीय भेद रहित है वही ब्रह्म सृष्टि काल में भी ज्यों का त्यों असंग निर्विकार नाम, रूप रहित भेद शून्य है । इस को लक्षणा वृत्ति से 'तत्' पद कहता है ।

त्वं पद का अर्थ है श्रवण मननादि के अनुष्ठान से महावाक्य के अर्थ का निश्चय करने वाला श्रोता कहलाता है । उसके देह, इन्द्रिय आदि स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप तीन शरीरों से भिन्न उनकी साक्षी भूत जो सद् वस्तु है, वह इस महावाक्य के 'त्वम्' पद में लक्षणा वृत्ति से कही गई है । इस वाक्य के 'असि' पद से शिष्य को तत् तथा त्वं इन दोनों पदों की समानाधिकरण्य से ब्रह्म और आत्मा एक ही अर्थ के बोधक है ऐसा बोध होता है । भावार्थ यह है कि जीव व ब्रह्म एक ही है ।

प्रश्न - ४७ : 'अयमात्मा ब्रह्म' इस महावाक्य द्वारा ब्रह्मात्मैकता का बोध किस प्रकार होता है ?

उत्तर : अयमात्मा ब्रह्म इस महावाक्य का अर्थ है यह आत्मा ब्रह्म है । इसमें 'अयम' पद साक्षी आत्मा स्वप्रकाश होने से, अपरोक्षता बोधक है ।

अर्थात् यह आत्मा घटपट आदि की तरह प्रत्यक्ष भी नहीं है तथा स्वर्गादि की तरह परोक्ष भी नहीं है । जो चेतन तत्त्व आत्मा है वह अहंकार, प्राण, मन, इन्द्रिय और देह रूप संघात से पृथक् अर्थात् अहंकार से लेकर देह पर्यन्त संघात का अधिष्ठान एवं साक्षी अन्तरात्मा है उसको इस महावाक्य में 'आत्मा' कहा गया है ।

दृश्यमान् अर्थात् दृश्य होने से मिथ्या भूत आकाश आदिक सकल जगत् का जो अधिष्ठान है एवं इस जगत् का बाध होने पर भी जो शेष रहता है वह परमार्थिक (वास्तविक) सच्चिदानन्द रूप तत्त्व ही ब्रह्म शब्द का अर्थ है । और ऐसा लक्षण वाला ब्रह्म स्वप्रकाश आत्मा स्वरूप है । "जो मनुष्य का स्वयं प्रकाश आत्मा ही है ।" इस आत्मा से भिन्न किसी को ब्रह्म नहीं समझना चाहिये । भावार्थ यह है कि दीखते हुए सम्पूर्ण जगत् का जो तत्त्व है उसको ब्रह्म शब्द कहता है और वह स्वप्रकाश आत्मा रूप है ।

मुमुक्षु को चाहिये कि वे इन चार महावाक्यों के ब्रह्मात्मा के एकता रूप अर्थ को वेदान्त शास्त्र द्वारा तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु से जान और सुनकर वाच्य एवं लक्ष्यार्थ के विचार द्वारा पदार्थ का शोधन कर उसकी यथार्थता जानकर श्रवण मननादि से संशय विपर्यय का निवारण करते हुए दृढ़ अपरोक्ष निष्ठा से अज्ञान तथा उसके कार्य रूप अनर्थ की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति रूप जीवन मुक्ति और देह मुक्ति को अनुभव करें ।

इन समस्त वाक्यों एवं प्रक्रियाओं का तात्पर्य एक ही है अर्थात् जीव भाव, ईश्वर भाव एवं जगत् का आरोप करके उनके अपवाद (निराकरण) द्वारा अद्वैत ब्रह्म का बोध कराना है । जिस मुमुक्षु को जिस तरीके से अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान हो उसके लिये वही उपयुक्त है ।

"तत्त्वमसि" महावाक्य में जो वाच्य, लक्ष्य की रीति दिखाई है वही शेष तीन महावाक्य में भी जानना चाहिये । इस प्रकरण में दो-दो पदों के लक्ष्यार्थ बताकर जो एकता समझाई है मुमुक्षु के लिये वही उपादेय है, परन्तु

वाच्यार्थ के ज्ञान बिना वाच्यार्थ में छुपे लक्ष्यार्थ का भी ज्ञान नहीं हो सकता । इसलिये वाच्य तथा लक्ष्य दोनों का अर्थ स्पष्ट किया है ।

इन चारों महावाक्यों में क्रमशः विद्यमान 'प्रज्ञान', 'अहं', 'त्वं', और 'अयम्' इन चार विशेषणों वाला आत्मा इन पदों का वाच्यार्थ जीव है और 'ब्रह्म', 'ब्रह्म', 'तत', और 'ब्रह्म' इन चारपदों का वाच्यार्थ ईश्वर है । ये जीव और ईश्वर अल्पज्ञादि तथा सर्वज्ञादि विरुद्ध धर्मवाले हैं । यद्यपि इन दोनों में घटाकाश, मठाकाश की तरह एकता असंभव है तथापि घट-मठ की दृष्टि को छोड़कर दोनों मे विद्यमान 'आकाश' मात्र की दृष्टि से जैसे एकता सम्भव है वैसे ही लक्षणा से धर्म सहित उपाधि भाग को छोड़ कर जीव ईश्वर दोनों में जो लक्ष्यार्थ चेतन मात्र है उसकी एकता संभव है । अतएव भागत्याग लक्षणा में ही इनके लक्ष्यार्थ अर्थात् विरोधी भाग को छोड़ कर और अविरोधी भाग को ग्रहण करके एकता संभव है ।

प्रश्न - ४८ : ओत-प्रोत भाव से चिन्तन किस प्रकार किया जाता है ?

उत्तर : यह ओत-प्रोत भाव की रीति श्रीमद् भागवत के १२ स्कंध के ५ अध्याय के १२ वे श्लोक में श्री शुकेदवजी ने परीक्षित को कही है । इन महावाक्यों का भागत्याग लक्षणा द्वारा दोनों (जीव-ब्रह्म) पदों की एकता का बोध कराने पर भी यथार्थ एकता का ज्ञान नहीं होता और एकता अंश में स्थित माया, अविद्या रूप कारण से परोक्षता और परिच्छिन्नता की भ्रान्ति बनी ही रहती है । उसके निवारणार्थ ही ओत-प्रोत भाव की रीति करनी चाहिये । वह इस प्रकार है -

तत् पद के अर्थ में परोक्षता की भ्रान्ति के निवारण के लिये ततं, त्वं (सो तू है) कहकर और त्वं पद इसमें अपने आत्मा में जो परिच्छिन्नता की भ्रान्ति दूर करने हेतु त्वं तत् (तू सो है) ऐसा कहा है । क्योंकि तत् पद के अर्थ ब्रह्म की परोक्षता भ्रान्ति का नाश त्वं पद के अर्थ नित्य अपरोक्ष साक्षी रूपता

से होता है और त्वं पद के अर्थ साक्षी की परिच्छिन्नता भ्रान्ति का नाश तत् पद के व्यापक ब्रह्म रूप अर्थ से होता है । इसी प्रकार अहं बह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म, आत्मा ब्रह्म इस प्रकार के ज्ञान से तो परिच्छिन्नता नष्ट हो जाती है और ब्रह्म, अहं ब्रह्म, प्रज्ञान, ब्रह्मात्मा इस प्रकार जानने से परोक्षता की हानि होती है ।

प्रश्न - ४९ : एक परमात्मा मे चित्त, अन्तर्यामि, सूत्रात्मा तथा विराट से चार अवस्था किस दृष्टान्त द्वारा जाने ?

उत्तर : वास्तविक रूप से तो ब्रह्म निष्प्रपंच ही है, किन्तु उस निष्प्रपंच वस्तु का निरूपण सीधा तो हो नहीं सकता । इसलिये (१) अध्यारोप, (२) अपवाद की सहायता से इसका वर्णन किया जाता है । इस न्याय के अनुसार परमात्मा में आरोपित (कल्पित) जगत् की स्थिति कैसी है इसका वस्त्र के दृष्टान्त द्वारा बोध किया जा सकता है ।

जैसे एक ही वस्त्र की चार अवस्था धुला, माँडयुक्त, छपा हुआ तथा रंगा हुआ है । इसी प्रकार एक ही परमात्मा में भी चेतन, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा, विराट ये चार अवस्था होती है । इस में माया एवं माया के कार्य से रहित होने से यह आत्मा रूप परमात्मा चेतन रूप मात्र है । माया से युक्त होने से यह आत्मा रूप परमात्मा ही अन्तर्यामी पद को प्राप्त होते है । अपंचीकृत भूतों के कार्य समष्टि सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध से सुत्रात्मा कहलाता है और स्थूल सृष्टि के कारण विराट् कहा जाता है । अर्थात् इन भिन्न-भिन्न उपाधि के कारण एक ही चेतन आत्मा इन चार नाम से कहा जाता है । जैसे एक ही वस्त्र शुभ्र धुला हुआ ''धौत'' माँडी (स्टार्च) से युक्त 'घट्टित' स्याही जैसे धब्वो से युक्त (छपाहुआ) लांछित व पूर्ण रूपेण रंगा हुआ रजित कहलाता है । उसी प्रकार परमात्मा जब तक माया और उसके कार्य के संबन्ध से रहित हो स्वरूप से ही हो तब तक चित्त तादात्म्य सम्बन्ध द्वारा माया से युक्त होने पर वही परमात्मा अन्तर्यामी अपंचीकृत पंचभुतों के कार्य भूत समष्टि सूक्ष्म शरीर से संयुक्त होने पर सूत्रात्मा और पंचीकृत पंचभूतों के

कार्य भूत समष्टि स्थूल शरीर (ब्रह्माण्ड) रूप उपाधि के योग होने पर विराट कहलाता है ।

प्रश्न - ५० : आत्मा में जगत् किस प्रकार से स्थित है ?

उत्तर : इस आत्मा रूप परमात्मा में ब्रह्मादि उत्तम देवता से लेकर अधम रूप कीट स्तम्ब (घास पत्तेवाले वृक्षादि) पर्यन्त सब चेतन एवं अचेतन प्राणी और गिरि (पहाड़) नदी आदि जड़ जगत् उँच-नीच भाव से ऐसे रहते हैं जैसे वस्त्र पर चित्र विद्यमान रहते हैं । अर्थात् जैसे चित्र में किसी वस्त्र पर नाना मनुष्यों को नाना प्रकार के वस्त्र पहने हूए जो दीखते हैं वे वास्तव में वस्त्र नहीं होते हैं । चित्र का मूल आधार वस्त्र पर भिन्न-भिन्न रंगों की उपाधि से वस्त्र की तरह प्रतीत होते हैं । इसलिये वे वस्त्रभास (दीखने मात्र) कहलाते हैं, क्योंकि उन रंगों से कल्पित किये हुए वस्त्रों द्वारा किसी के शीत या देह रक्षा का निवारण नहीं हो सकता ।

इसी प्रकार आत्मा स्वरूप परमात्मा में अज्ञान अथवा माया के कारण आरोप हुए देव आदि देहधारी प्रत्यक शरीर के लिये पृथक् पृथक् जीव नाम का एक-एक चिदाभास कल्पित किया जाता है । वे चित्र के मनुष्य के वस्त्र की तरह कल्पित ही है । पर्वत आदि स्थावर पदार्थों में चिदाभास नहीं है और ये जीव देव मनुष्य राक्षस आदि के शरीरों को प्राप्त होकर अनेक प्रकार से जन्म-मरणादि रूप संसार को भोगते हैं । किन्तु इसमें परमात्मा निर्विकार है वह संसार को भी भोगते हैं, किन्तु इसमें परमात्मा निर्विकार है वह संसार में नहीं फँसता है ।

प्रश्न - ५१ : आत्मा में संसार की प्रतीति क्यों होती है तथा किस प्रकार से है ?

उत्तर : आत्मा में संसार की प्रतीति बनावटी कपड़े याने कपड़ा पर रंगों द्वारा बनाये गये मनुष्य स्त्री आदि के शरीरों के आकारों को पहनाये गये रंग से ही कल्पित वस्त्रों को अज्ञानी जन आधार रूप वस्त्र में पृथक् से स्थित वस्त्र

बतलाते हैं । किन्तु ये वस्त्र तो आभास मात्र ही है सत्य से नहीं है । सत्य में तो एक वस्त्र मात्र है और इस वस्त्र पर कलाकार द्वारा अंकित नाना जड़-चेतन संसार दृश्य मिथ्या मात्र है । उसी प्रकार अज्ञानी जन जीव के संसार को शुद्ध चैतन्यात्मा में मानते हैं, किन्तु वह जीव स्वयं ही चित्र में दीखने वाले प्राणी के आकार की तरह कल्पित है तथा उस जीव का संसार भी वैसा ही कल्पित है । जैसे चित्र में दीखने वाले स्त्री के आवरण रूप वस्त्र अथवा सुन्दरता बढ़ानेवाले अलंकारादि मिथ्या होते हैं ।

अब जैसे चित्र में स्थित वृक्ष, पत्थर, पशु, नदी, घास, पक्षी, जल आदि के चित्रों में वस्त्र की भ्रान्ति नहीं होती न उनमें चिदाभास ही होता है । तथा रंगों के अभाव में स्थावर जंगम दृश्य कुछ भी प्रतीत नहीं होता है । इसी प्रकार सृष्टि में स्थित मिट्टी आदि जड़ पदार्थों में चेतनता की भ्रान्ति नहीं होती और न उनमें चिदाभास ही होता है तथा अज्ञान के अभाव में आत्मा में जड़ चेतन प्राणियों की किसी भी प्रकार प्रतीति नहीं होता है ।

अपने निज आत्म स्वरूप में कर्तृत्व तथा भोगतृत्व की भ्रान्ति बुद्धि अज्ञान का कार्य रूप है । आत्मा में तो परमार्थ से कोई भी धर्म नहीं है और इस अविद्या अथवा अज्ञान की निवृत्ति पुरुषार्थ द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लेने पर हो जाती है ।

प्रश्न - ५२ : किस प्रकार के ज्ञान द्वारा यह आत्मा में अन्यथा बुद्धि की निवृत्ति होती है ?

उत्तर : यह संसार सत्य है तथा आत्मा में स्थित है ऐसा जानना ही भ्रान्ति है और इसी भ्रान्ति को अविद्या कहते हैं और इस अविद्या की निवृत्ति विद्या से होती है । और वह विद्या का स्वरूप इस प्रकार है -

यह संसार आत्मा की नहीं है किन्तु आत्मा का आभास (चिदाभास) रूप जीव को ही है । इस प्रकार निश्चय से आत्मा को असंग, निष्क्रिय, निष्प्रपंच, निर्विकार जानना ही ज्ञान है अथवा विद्या है और यह विद्या आत्मा

अनात्मा के विवेक करने से उदय होती है । इसलिये मुमुक्षु को चाहिये कि वह जगत् जीव और परमात्मा इन तीन का सदा विचार करे । जीव और जगत् का विचार भी इसलिये कि इनका विचार से बाध होने पर परमात्मा रूप आत्मा ही शेष रह जाता है अर्थात् जगत् तो जड़ माया मिथ्या है एवं जीव अविद्या उपाधि से रहित शुद्ध चेतन घटाकाश महाकाश की तरह अभिन्न ही है ।

परन्तु बाध (निषेध) का अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि विवेक होने पर समस्त प्रतीति का भी अभाव हो जावेगा । बाध का अर्थ है कि उनके प्रतीत होने पर भी उनके मिथ्या होने के निश्चय को बाध कहते हैं । यदि समस्त दृश्य की अप्रतीति को ही बाध कहे तो सुषुप्ति, मुच्छा, प्रलय, मरण आदि के समय मनुष्य को कुछ भी प्रतीत न होने से वह मुक्त हो जायेगा, क्योंकि उस समय बिना प्रयत्न के द्वैत की प्रतीति नष्ट हो जाती है । अतएव तत्त्वज्ञान के बिना ही मुक्ति माननी पड़ेगी । तब ''ऋते ज्ञानान्नमुक्ति'', 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इन वेद वाक्यों का विरोध होगा क्योंकि बिना आत्मज्ञान के मुक्ति होती नहीं है ।

इस प्रकार बाध का अर्थ समझने के साथ ''परमात्मा शेष रह जाता है '' इस का भी अर्थ समझ लेना चाहिये कि परमात्मा के अतिरिक्त सब जगत् को भूल जाना ''परमात्मा शेष'' का अर्थ नहीं अपितु परमात्मा को सत्य समझ लेना ही है । यदि जगत् को भूल जाना ही इस ''परमात्मा शेष''पद का अर्थ करे तो फिर ज्ञानी की जीवन मुक्ति तथा जिज्ञासु को उपदेश भी संभव नहीं हो सकेगा ।

प्रश्न - ५३ : यह जीव जगत् तथा परमात्मा का विचार कब तक करते रहना चाहिये ?

उत्तर : जैसे दही को मथते-मथते जब मक्खन निकल आता है तब उसे मथना छोड़ देते हैं । उसी प्रकार जगत् जीव और परमात्मा का यह विचार

अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति पर समाप्त होता है । विचार करने से परोक्ष ज्ञान तथा अपरोक्ष रूप विद्या का जन्म होता है ।

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेत परोक्ष ज्ञानमेव तत् ।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेत साक्षात्कार स उच्यते ।।

अर्थात् 'ब्रह्म है' इतना सुनकर मानने को परोक्ष ज्ञान कहते हैं, और जब श्रवण मननादि द्वारा यह जान ले कि ''मैं ब्रह्म हूँ '' तब इसको साक्षात्कार अथवा अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं । इसी ज्ञान से जीव सदा के लिये जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाता है । अतः इस प्रकार अपरोक्ष ज्ञान के होने के क्षण तक जगत् जीव तथा परमात्मा का विचार कर्त्तव्य है पश्चात् नहीं । जहाँ मरण पर्यन्त शास्त्र चिन्तन करने को कहा है वह काम, क्रोधादि को स्थान न देने का ही संकेत है विचार का नहीं ।

प्रश्न - ५४ : अविद्या तथा उसके कार्य आवरण के होने में क्या प्रमाण है ?

उत्तर : अविद्या तथा उसके कार्य आवरण के होने में अनुभव ही प्रमाण है । जब कोई ज्ञानी पुरुष किसी अज्ञानी से पूछता है कि 'तू कूटस्थ (आत्मा) को जानता है या नहीं'' तब वह अज्ञानी कहता है कि ''मैं कूटस्थ को नहीं जानता'' । यह नहीं जानने रूप उत्तर वह अपने अनुभव के आधार पर ही देता है । यह अविद्या का ही अनुभव है । और कहता है कि 'कूटस्थ नहीं और भासमान भी नहीं होता' यह बात कूटस्थ के अभाव को और उसकी अप्रतीति को अनुभव के कारण ही बताता है यही आवरण का अनुभव है ।

अनादि कालीन अविद्या के दो भेद है एक विक्षेप तथा दूसरा आवरण । कूटस्थ न तो प्रतीत होता है न ही वह है ही । इस मिथ्या व्यवहार का हेतु आवरण है । इसी अविद्या से अनन्योध्यास की उत्पत्ति होती है । अतः अनुभव सिद्ध अविद्या को अस्वीकार नहीं कर सकते । यदि अपने अनुभव पर विश्वास नहीं होगा तो फिर तर्क करने से भी कोई लाभ नहीं होगा,

क्योंकि फिर अनुभव को ही नहीं मानने वाला तार्किक किस प्रकार तत्त्व निश्चय पर पहुँचेगा ? किसी भी प्रकार नहीं । अपना अनुभव ही एक ऐसी वस्तु है जिससे किसी बात का निर्णय हो सकता है ।

प्रश्न – ५५ : कूटस्थ आत्मा जब प्रकाश रूप है तब उसीके आश्रित अज्ञान अन्धकार कैसे रह सकता है ?

उत्तर : कूटस्थ आत्मा अविद्या का विरोधी नहीं है । यदि अविद्या का विरोधी होता तो 'मैं कूटस्थ को नहीं जानता' और 'कूटस्थ न तो प्रतीत होता है', 'न वह है ही' इस मिथ्या व्यवहार का अनुभव किसके आधार से होगा ? अतः अविद्या और आवरण विषयक अनुभव से सिद्ध होता है कि कूटस्थ चैतन्य अविद्या और आवरण का विरोधी नहीं है । यदि होता तो अविद्या का अनुभव नहीं होता, किन्तु जब यह प्रतीति होती है तब यह मानना पड़ता है कि कूटस्थ अविद्या का विरोधी नहीं है ।

प्रश्न – ५६ : अविद्या का नाश फिर किस साधन से होगा ?

उत्तर : अविद्या का नाश सामान्य चैतन्य (ज्ञान) नहीं होता बल्कि गुरु मुख द्वारा वेदान्त महावाक्य श्रवण मननाादि से उत्पन्न विशेष चैतन्य (ज्ञान) से ही होता है और वह अविद्या का विरोधी विवेक तत्त्वज्ञानी से स्पष्ट ही देखने में आता है अर्थात् उपनिषदों के विचार से जो तत्त्वज्ञानी है उसका जो विवेक है उससे ही अविद्या का नाश होता है ।

प्रश्न – ५७ : आत्मा में विक्षेप अध्यास किस प्रकार है ?

उत्तर : अविद्या और आवरण वाले कूटस्थ रूप प्रत्यगात्मा में, सीपी में चाँदी की भाँति आरोपित स्थूल, सूक्ष्म दोनों देहों से युक्त का नाम ही विक्षेपाध्यास है ।

जैसे सीपी का इदं अंश (यहपना) और सत्यत्वं ये दोनों सीपी के रूप आरोपित चाँदी में मनुष्यों को दीखते हैं । इसी प्रकार कूटस्थ में स्थित स्वयंपना और सत्यत्त्वं ये दोनों धर्म आरोपित चिदाभास में दीखते हैं । तथा

जिस प्रकार सीपी के नील पृष्ठ और त्रिकोण ये दो विशेष धर्म छिपे (तिरोहित) है । इसी प्रकार कूटस्थ के भी असंग और आनन्द रूप दोनों विशेष धर्म तिरोहित है । अर्थात् चिदाभास में प्रतीत नहीं होते व जैसे सीपी रूप दृष्टान्त में आरोप किये पदार्थ का चाँदी नाम है । इसी प्रकार कूटस्थ रूप प्रत्यगात्मा में आरोपित चिदाभास रूप विक्षेप का भी अहं (मैं) नाम है ।

सामने पड़ी सीपी के सामान्य इदं अंश को देखते हुए भी पुरुष अध्यास के कारण चाँदी मान लेता है । इसी प्रकार स्वयं अपने रूप को देखता हुआ अंह (मैं) अभिमान करता है । जैसे सीपी का यह पना तथा चाँदी पना दोनों भिन्न है ऐसे ही स्वयं पना और अहं पना भी भिन्न है ।

स्वयं कूटस्थ व आत्मा ये यथार्थ शब्द है जल पानी नीर की तरह, किन्तु विक्षेप के कारण स्वयं को अहं (मैं) है इस प्रकार जानता है यही आत्मा में विक्षेप अध्यास है ।

प्रश्न – ५८ : चेतन और अचेतन का भेद कौन करता है ?

उत्तर : चेतन और अचेतन का भेद कूटस्थ आत्मा का किया हुआ नहीं है किन्तु बुद्धिकृत चिदाभास का किया हुआ है । बुद्धि के आधिन चेतन का प्रतिविम्ब ही उनके भेद का कारण है । सामान्य चेतन तो सर्वत्र समान ही है । घट-पटादि जड़ पदार्थों में भी घट स्वयं नहीं जानता । इस प्रकार स्वत्व देखा ही जाता है, क्योंकि उनमें भी भाति रूप स्फूरण से आत्मा चैतन्य रहता है । ''जहाँ अन्तःकरण होता है वहाँ सामान्य चेतन ही विशेष चैतन्य होकर नाना क्रिया करते हुए प्रतीत होता है'' । चिदाभास एवं जड़ पदार्थों की कल्पना का अधिष्ठान कूटस्थ आत्मा ही है ।

प्रश्न – ५९ : आत्मा में जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था किस तरह स्थित है ?

उत्तर : आत्मा में तीन अवस्था सीप में रूपा (चाँदी) भोडल (अभ्रक) तथा कागज (पन्ने) की तरह कल्पित भासते है । अर्थात् जैसे सीपी में अज्ञान

से कल्पित् रूपा भोडल कागजादि भासते हैं वैसे ही स्वत्त्वरूप (आत्मा) में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्था अज्ञान से कल्पित है ।

सिपी में कल्पित उन तीनों पदार्थों का आपस में व सीपी के साथ व्यतिरेक है और सीपी के सामान्य अंश का तीनों अवस्थाओं भ्रान्ति, कल्पित एवं वस्तु के साथ भी अन्वय है । जैसे कि -

१. सीपी में जब चाँदी (रूपा) भासित होता है तब भोडल और कागज भासित नहीं होता । और

२. जब भोडल और चाँदी भासित होता है तब कागज भासित नहीं होता । और

३. जब कागज प्रतीत होता है तब भोडल व चाँदी उसी व्यक्ति को प्रतीत नहीं होती ।

यह तीनों वस्तुओं का आपस में व्यतिरेकता है । क्योंकि सीपी में इन तीनों वस्तुओं का आदि मध्य व अंत में व्यवहारिक और परमार्थिक सत्ता का अत्यन्त अभाव है । यह सीपी में भी तीनों वस्तुओं का व्यतिरेक है । तथा तीनों कालों में इन तीनों का सीप में अत्यन्ताभाव है ।

भ्रान्ति काल में -

(१) 'यह' रूपा है (२) 'यह' भोडल है (३) 'यह' कागज है । इन तीनों अवस्थाओं में 'यह' अंश जो सीपी का सामान्य रूप है अनुस्युत है अर्थात् सब में विद्यमान है । इसी को सीपी का अन्वय भी कहते हैं । यहाँ सीपी के तीन रूप है । (१) सामान्य, (२) विशेष, (३) कल्पित विशेष ।

इदं पना सीपी का सामान्य अंश है क्योंकि वह अधिक काल प्रतीत होता है । याने भ्रान्ति काल में भी 'यह' जो सीपी का सामान्य अंश है वह 'यहपना' भोडलादिक् की प्रतीति के समय भी विद्यमान रहता है व भ्रान्ति के अभाव काल में भी यह सीपी है इस प्रकार प्रतीत होती है । इसलिये यह

'इदंपना' सीपी का समान्य अंश हैं और भ्रान्ति काल में भी 'यह' रूप से रहने से आधार भी कहलाता है ।

(२) नील पृष्ठ तीन कोण युक्त सीपी विशेष अंश कहालती है क्योंकि जो कम समय प्रतीत होती है वह विशेष अंश कहलाता है ।

भ्रान्ति काल में इन नील पृष्ठ तीन कोण युक्त आकार की प्रतीति नहीं होती । किन्तु इस आकार की प्रतीति होने से भ्रान्ति की निवृत्ति होती है । इसलिये अल्पकाल प्रतीत होने से यह सीपी का आकार विशेष अंश कहलाता है तथा अधिष्ठान भी कहलाता है ।

(३) रूपा, भोडल, कागजादि की सीपी में जो प्रतीति होती है वह कल्पित विशेष अंश है । क्योंकि अधिष्ठान (सीपी) के ज्ञान काल में प्रतीत नहीं होता है । उसे ही कल्पित विशेष अंश कहते हैं । इस को भ्रान्ति भी कहते हैं ।

सिद्धान्त :- उसी प्रकार अधिष्ठान आत्मा में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीनों अवस्था भ्रान्ति आत्मा के अज्ञान से अज्ञानी को निज रूप आत्मा में प्रतीत होती है और उन तीनों अवस्था का आपस मं और अधिष्ठान आत्मा के साथ व्यतिरेक भी है । अर्थात् अभाव या व्यावृत्ति है और आत्मा तीनों अवस्था में सीपी के इदं पने की तरह अन्वय है (भाव या अनुवृत्ति) जैसे कि -

(१) जाग्रत की प्रतीति होती है तब स्वप्न व सुषुप्ति की प्रतीति नहीं होती । और जब

(२) स्वप्न प्रतीत होता है तब सुषुप्ति तथा जाग्रत प्रतीत नहीं होता । और जब

(३) सुषुप्ति होती है तब जाग्रत व स्वप्न प्रतीत नहीं होते ।

इस प्रकार इन तीन अवस्थाओं का परस्पर और आत्मा के साथ

व्यतिरेक (अभाव) है । अर्थात् अधिष्ठान आत्मा में इन तीनों अवस्था का पारमार्थिक रूप से अत्यन्त अभाव (नित्य निवृत्ति) है ।

आत्मा इन तीन अवस्था में अनुस्यूत होकर के प्रकाशित होता रहता है । यह आत्मा का तीन अवस्थाओं में अन्वय है । सीपी की तरह यहाँ आत्मा के भी अविद्या उपाधि से आरोपित तीन अवस्था है । (१) सामान्य रूप, (२) विशेष रूप, (३) कल्पित् विशेष रूप ।

(१) सत् (है पना) रूप सामान्य अंश है क्योंकि 'जाग्रत है', 'स्वप्न है', 'सुषुप्ति है' इस प्रकार आत्मा का सत्पना (है पना) भ्रान्ति काल में भी प्रतीत होता है ।

(२) भ्रांति की निवृत्ति काल में भी मैं सत् हूँ, मैं चित् हूँ, मैं आनन्द हूँ मैं परिपूर्ण हूँ, मैं असंग हूँ, मैं नित्य मुक्त हूँ मैं ब्रह्म हूँ । इस रीति से आत्मा के सत्पने की प्रतीति भ्रांँति काल तथा भ्रांति की निवृत्ति काल में भी होने से यह सत रूप आत्मा का सामान्य अंश है और आधार भी है ।

(३) चेतन आनन्द असंग अद्वितीय आदिक जितने भी आत्मा के विशेषण है वह सब आत्मा का विशेष अंश कहलाता है क्योंकि भ्रांति काल में इस विशेष अंश की प्रतीति नहीं होती है किन्तु इन की प्रतीति से ही भ्रांति की निवृत्ति होती है । इसलिये आत्मा के समस्त विशेषण आत्मा का विशेष अंश है और इसी को अधिष्ठान कहते हैं ।

(४) तीन अवस्था रूप प्रपंच कल्पित् विशेष अंश है, क्योंकि ब्रह्म से अभिन्न आत्मा के अज्ञान काल में ही इन तीन अवस्थाओं की प्रतीति होती है । और जब सद्गुरु मुख से वेदों के महावाक्य का उपदेश सुन कर मनन ध्यानादि के परिणाम स्वरूप 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी ब्रह्माकार वृत्ति उदय हो जाती है तब ये तीनों अवस्था आत्मा से पृथक् सत्रूप से प्रतीत नहीं होती है । इसलिये ये तीनों अवस्था कल्पित् विशेष है । इसे भ्रान्ति भी कहते हैं । इस प्रकार तीन अवस्था आत्मा में मिथ्या प्रतीत होती है ।

प्रश्न – ६० : चिदाभास (जीव) व कूटस्थ आत्मा की एकता की भ्रांति का क्या कारण है व कैसे दूर होगी ?

उत्तर : यह जीव कूटस्थ एकता भ्रांति का कारण तादात्म्याध्यास अविद्या का किया हुआ है । अतएव अविद्या के निवृत्त हो जाने पर उसके कार्य रूप अध्यास की भी निवृत्ति हो जाती है । अर्थात् उसका कार्यभ्रम भी नष्ट हो जाता है । कूटस्थ में कल्पित् की गई बुद्धि में चेतन का प्रतिविम्ब ही जीव अथवा चिदाभास कहलाता है । यही सब प्राणों को धारण करतर है, इसलिये उसे जीव कहते हैं । यह जीव ही संसार में फँसा रहता है । केवल प्रतिविम्ब को ही जीव या चिदाभास नही कहते बल्कि अधिष्ठान कूटस्थ सहित उस चिदाभास को ही जीव कहते हैं । स्व का अर्थ कूटस्थ निर्विकार साक्षी आत्मा है और अहं (मैं) का अर्थ परिणामी विकारी चिदाभास है यह वाच्य है लक्ष्य कूटस्थ ही है ।

प्रश्न – ६१ : ब्रह्म और आत्मा की एकता रूप ज्ञान उत्पन्न होने पर भी अविद्या के कार्य देह आदि क्यों विद्यमान रहते हैं ?

उत्तर : अविद्याकृत आवरण और तादात्म्य (जीव कूटस्थात्मा की एकता का भ्रम) ये दोनों तो मुख्यतया अविद्या के कार्य होने के कारण विद्या (ब्रह्मात्मैकता ज्ञान) से ही नष्ट हो जाते हैं, परन्तु विक्षेप का स्वरूप तो प्रारब्ध के बिनाश की अपेक्षा करता है । बिना प्रारब्ध समाप्त हुए देहादि प्रतीति का अभाव नहीं होता । स्थूल सूक्ष्म शरीर सहित चिदाभास को विक्षेप कहते हैं । उस विक्षेप का स्वरूप प्रारब्ध कर्मोपाधि सहित अविद्या से उत्पन्न है । उसमें अविद्या और कर्म दोनों कारण है । अतएव कर्म के अवसान पर्यन्त तो रहेगा ही । इसीलिये ब्रह्मात्मैक्य का ज्ञान हो जाने पर भी देहादिक की उपलब्धि होती रहती है ।

प्रारब्ध कर्म तो निमित्त मात्र है वे चाहे बने रहे । उपादान कारण अविद्या के नष्ट हो जाने पर भी कार्य रूप विक्षेप कैसे बना रहता है ? इस

प्रकार के शंका के उत्तर में यह दृष्टान्त समझें कि बिजली के पंखे का स्वीच बंद कर देने पर भी पंखा कुछ क्षण तक उपादान विजली के अभाव हो जाने पर भी जिस प्रकार प्राप्त पूर्व बिजली के वेग से घूमता रहता है या कुम्भार का चाक एक बार घूमाकर छोड़ देने पर भी देर तक घूमता रहता है । इस प्रकार संसार तो अनादि काल से चला आ रहा है, किन्तु संस्कार वश भ्रम रूप संसार अविद्या रूप उपादान के नष्ट हो जाने पर भी चिरकाल अर्थात् प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति तक ऐसे ही बना रहता है । इस में श्रुति युक्ति एवं अनुभव प्रमाण ही है ।

''तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये ।''

यह छान्दोग्य श्रुति का प्रमाण है - अर्थात् ज्ञानी को मोक्ष में इतनी देरी है कि जब तक देहपात नहीं होता । देहपात होते ही ज्ञानी मुक्त हो जाता है । कुलाल चक्र का भ्रमण हमारे सिद्धान्त में युक्ति है और विद्वानों का अनुभव तो स्वतः प्रमाण है ही । अतएव प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति तक विक्षेप का बना रहना हमारे मत में सिद्ध है ।

प्रश्न - ६२ : योग वादियों तथा सांख्य वादियों के भ्रांत क्यों कहा जाता है ?

उत्तर : तृण ईंट आदि के पूजकों से लेकर योग पर्यन्त वादियों को ईश्वर के विषय में भ्रान्ति है और लोकायत (चार्वाक्) से लेकर सांख्यवादियों तक को जीव के विषय में भ्रान्ति है । चाहे वे रामानुजाचार्य हो कि माधवाचार्य या पतंजली हो कि कपिल जो भी अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व को नहीं जानते हैं वे भ्रांत ही है, न वे आचार्य ही कहलाने योग्य हैं, क्योंकि जो जीव ब्रह्म की एकता का निश्चय कर चुका है एवं कराता है वही आचार्य होने योग्य है । अतः भेद भ्रान्ति वालों की मुक्ति कहाँ ? और उनको इस लोक में भी सुख कहाँ ? जिस पक्ष को वे ग्रहण कर लेते हैं उसके प्रतिपादन का हठ करते हैं । अतएव उनका चित्त स्थिर नहीं होता और फिर इस लोक में भी सुख कहाँ मिल

सकता है ? ये लोग उस अद्वितीय और अंसग ब्रह्म तत्त्व को नहीं पहचानते हैं । इसलिये माया कल्पित् जीव और ईश्वर के विषय में व्यर्थ ही विवाद करते हैं ।

मुक्ति तो ब्रह्मात्मैकता के ज्ञान से ही होती है और किसी प्रकार से नहीं होती । जैसे अपने जागने के बिना अपनी निद्रा में कल्पित स्वप्न का निराकरण नहीं होता । ऐसे ब्रह्मतत्त्व ज्ञान के बिना सौ ब्रह्माओं के बीत जाने पर भी अपना संसार बंधन नहीं छूटता ।

ईश्वर जीव आदि रूप से जो जड़ चेतन स्वरूप समग्र जगत् है, वह अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व में स्वप्न ही है । श्रुति में कहा -

''त्रयमेतत् सुषुप्त स्वप्नमायामात्रम्''

अर्थात् यह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों मिथ्या माया मात्र ही है । आत्मा में अज्ञान से प्रतीत होती है । वस्तुतः यह जगत् क्या है ? अद्वितीय ब्रह्म को ही तो अन्यथा समझ लिया गया है अर्थात् जगत्, जीव, ईश्वर स्वप्न तुल्य ही तो है । जैसे अल्प बुद्धि लोग मेघाकाश और महाकाश में भेद नहीं कर पाते वैसे ही स्थूल बुद्धि के लोग ब्रह्म और ईश्वर को एक ही समझते रहते हैं । अर्थात् भ्रान्त मनुष्य ब्रह्म को असंग एवं ईश्वर को जगत् कर्ता न जानकर एक ही जानते हैं ।

जैसे माँडी लगा वस्त्र घोटने से एकीभूत (गफ) हो जाता है इसी प्रकार अनन्योध्यास रूप यह ईश्वर भी भ्रान्ति के कारण ब्रह्म के साथ एक हो जाता है । अर्थात् सत्य ज्ञान अनन्त रूप निर्गुण बह्म तो जगत् का कारण प्रतीत होता है । जब कि वह असंग निर्विकार निष्क्रिय है और जगत् का कारण मायाधीन चिदाभास (ईश्वर) सत्य भासमान होता है । इस आपस के धर्मों की भ्रांति ही को अनन्योध्यास कहते हैं । और जो इसे विवेक द्वारा पृथक नहीं जानते तथा जीव ब्रह्म को एक रूप नहीं जानते वे सभी भ्रांत एवं अज्ञानी ही हैं ।

इसलिये मुमुक्षु जनों को चाहिये कि वे जीव और ईश्वर संबन्धी वादों की उलझन में न फँसे । अपितु श्रुति के अनुसार ब्रह्मात्मैकता का ही बारम्बार गुरु मुख द्वारा श्रवण करें विचार कर और उसे ही जानने का पुरुषार्थ करें । उसके जाने बिना मृत्यु से छुटकारा पाने का अन्य कोई मार्ग ही नहीं है । यदि किसी अन्य मत में सिद्धान्त की एक दो बातें मिल जावें तो वह मत सत्य नहीं मान लिया जाता । जैसे कोई दुष्मन को मारने हेतु तलवार मारे और उसका पूर्व रोग मिट जावे तो यह कोई सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं होगा ।

अपने ही आश्रय के व्यामोह में डाल देने वाली अनादि माया के प्रभाव से विपरीत बने लोग भ्रान्ति से जीव और ईश्वर को अत्यन्त भिन्न समझते हैं । वे कर्ता आदि रूप में जीव को और सर्वज्ञ आदि रूप में ईश्वर को वास्तविक मानते हैं । केवल उनकी उस भ्रांति को हटाने के लिये ही भागत्याग लक्षणा द्वारा महावाक्यों का शोधन किया जाता है । और दोनों पदों (तत्, त्वं) के शोधन की दिशा में कुछ उपयोगी हो जाने से सांख्य और योग मत को मान लें तो फिर अन्नमय कोश की शोधनता में उपयोगी होने से देह को भी आत्मा मानना पड़ेगा ।

आत्मा भिन्न-भिन्न, अनेक है, जगत् सत्य है यह सांख्य योग का सिद्धान्त है और ईश्वर, जीव तथा जगत् से भिन्न है यह योग मत है । इन तीनों सिद्धान्तों को जब सांख्य और योगवादी छोड़ देंगे तब वेदान्त के साथ उनकी सहमति संभव है, क्योंकि उनके सिद्धान्त वेद के साथ बहुत कुछ मिलने पर भी ऊपरोक्त तीन सिद्धान्त वेद के विरुद्ध होने से वे भ्रान्त ही कहे जावेंगे । अतः जब तक जीव जगत तथा ईश्वर की सत्यता का आत्मा से पृथक् बोध है तब तक वह वेदान्त सिद्धान्त से दूर होने से मुक्ति का अधिकारी नहीं है ।

जबतक जगत् और ईश्वर जीवित है, जीव की दृष्टि में तबतक आत्मा की असंगता का ज्ञान होना संभव नहीं होगा । यदि केवल आत्मा को असंग जान लिया एवं अद्वैत बोध नहीं किया तो आत्मा के असंगता का ज्ञान पुनः

नष्ट हो जावेगा । क्योंकि यह प्रकृति पहले की तरह ही अवश्य तादात्म्यता (संग) को पैदा कर देगी और ईश्वर भी उसपर अपना शासन पूर्व की तरह बनाये रखेगा व जीव को ईश्वर का भय एवं प्रेरणा बनी रहेगी । तब फिर जीव का मोक्ष भी क्या होगा ? अर्थात् जगत् और ईश्वर के रहते अद्वैत ज्ञान हुए बिना असंगता का ज्ञान होना असंभव है ।

वैसे सांख्य और योग में शुद्ध चेतन रूप ही जीव और ईश्वर का वर्णन है । और यह सिद्धान्त वेदान्त के अनुकूल भी है । फिर भी वे जगत व ईश्वर को सत्य तथा आत्मा को नाना मानते हैं । इस विरुद्धता से वे भ्रांत है इसलिये उनका सिद्धान्त ग्राह्य नहीं है ।

प्रश्न - ६३ : एक आत्मा को जानने से बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था कैसे हो सकेगी ?

उत्तर : अद्वैत मानने से बन्ध मोक्ष की व्यवस्था माया से संभव है, क्योंकि जो बात दुर्घट (असंभव) है उसे माया कर देती है ऐसा माया का विरोधी स्वभाव है । और बन्ध अविद्या से उत्पन्न है तो मोक्ष भी वास्तविक नहीं है । श्रुति कहती है कि -

इस आत्मा का न कभी नाश होता है न वह कभी उत्पन्न होता है याने देह के संबन्ध में नहीं आता, न इसका बन्धन सुख दुःखादि संबन्ध होता है, न यह कभी साधक, श्रवण, मनन आदि साधनों का कर्ता होता है न मुमुक्षु बनता है और यह कभी मुक्त भी नहीं होता । क्योंकि इस में अविद्या जन्य बन्ध आया ही नहीं । यही परमार्थता है कि इनमें से कोई भी बात वस्तुतः आत्मा में नहीं होती । और जैसे एक ही गाढ़ अन्धकार रात्रि में उसी घर का दूर होता है जहाँ प्रकाश होता है अन्या के घर का नहीं । इसी प्रकार एक ही आत्मा के मानने पर भी बन्ध उसी अन्तःकरण का छूटता है जिसमें गुरु द्वारा आत्मज्ञान होता है ।

माया नाम की कामधेनु (गाय) के जीव और ईश्वर दोनों बछड़े हैं, ये

द्वैत रूप दूध को भले ही यथा इच्छा पीते रहे याने द्वैत में मग्न रहे पर तत्त्व तो अद्वैत ही है ।

इस प्रकार जीव एवं ईश्वर तो मिथ्या मायिक ही है एवं कूटस्थ तथा ब्रह्म का तो नाम मात्र का ही भेद है । जैसे घटाकाश और महाकाश उपाधि रहित आकाश का कोई भी भेद नहीं है न कभी पृथक् ही होती है । सृष्टि के पूर्व जैसा सत् अद्वैत तत्त्व है वैसा ही अभी सृष्टि काल में है और ऐसा प्रलय काल में है तथा मुक्ति में भी है । इस प्रकार त्रिकालबाधित होने से यह वास्तविक है । माया ने सब जीव को भ्रम में डाला हुआ है । तत्त्वज्ञान से रहित होने से लोग स्वभाव से भेद मानते रहते हैं ।

प्रश्न- ६४ : जो लोग तत्त्वज्ञानी है तब फिर वे संसार मे फँसे क्यों दीखते हैं ?

उत्तर : जो लोग प्रपंच को मायामय मिथ्या तथा अपने आत्मा को अद्वैत जानते हैं तो भी पूर्व प्रारब्ध कर्म के अनुसार उन कर्मों के फल भोगार्थ इच्छा, प्रयत्न व भोग ग्रहण करते हुए से प्रतीत तो अवश्य होते हैं किन्तु इन लोगों को अज्ञान काल की तरह मैं ब्रह्म हूँ व संसार के विषय में भ्रांति याने सत्यता की बुद्धि नहीं होती । निश्चय से ये संसार को मिथ्या एवं विषय निमित्त से अपने आत्मा का ही आनन्द मानते हैं पदार्थों का नहीं । प्रारब्ध कर्मवश ज्ञानी कितने ही व्यवहार में भले ही फँसे रहे परन्तु पूर्व अज्ञानावस्था की भ्रान्ति अब उनके व्यवहार में उतना आग्रह नही दिखाई पड़ता तथा अपने से सदा मुक्त ही मानते हैं ।

प्रश्न - ६५ : अज्ञानी को संसार के प्रति क्या भाव बना रहता है ?

उत्तर : स्त्री, पुत्र, मित्र, परिवार, धनादि तथा स्वर्गादिक संसार एवं उनका सुख भोग वास्तव है । और आत्मा न तो प्रतीत होती है और न वह है ही । यही अज्ञानी लोगों की धारणा है, इसी को बन्ध कहते हैं । देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण से पृथक् अपने आत्मा को नहीं जानता हैं । इसी से

उसकी बन्धन (भेद ग्रन्थि) है ।

प्रश्न- ६६ : अद्वैत की प्रतीति शास्त्र द्वारा तो होती है किन्तु यह अनुभव में किस प्रकार आवे ?

उत्तर : सबको जानने वाला जो देह में चैतन्य ज्ञान स्वरूप तत्त्व है वही आत्मा है तथा वह अनुभव ही है । वह अनुभव की वस्तु अनुभाव्य नहीं है । आत्मा नित्य ज्ञान स्वरूप होने से स्वयं ही अनुभूति स्वरूप है । इसलिये आत्मा किसी का अनुभाव्य नहीं होता क्योंकि पंचकोशों तीनों अवस्थाओं का साक्षी आत्मा अन्य का विषय नहीं जो उसे अनुभव कर सके । यदि कहो कि फिर ऐसा आत्मा है भी इसमें क्या प्रमाण ? तो इसका चिद्रूप में भान होना ही प्रमाण है । घट स्फूरता अर्थात् भासता है, पट स्फूरता है, मोटर स्फूरती है इत्यादि में घटादियों में अनुस्यूत स्फूरण द्वारा चिदरूप से अद्वैत चेतन तत्त्व की प्रतीति सबको सब पदार्थों में हो रही है । अतः सब पदार्थों के रूप में एक अद्वैत चैतन्य ज्ञान ही प्रतिविम्बित हो रहा है और यही इसका अनुभव है । सर्वत्र भासमानता बिना आत्मा के जड़ वस्तु को नहीं हो सकती ।

प्रश्न- ६७ : अद्वैत आत्मा का निश्चय हो जाने पर भी पुनः द्वैत की सत्यता प्रतीत होती है तो क्या करें ?

उत्तर : द्वैत असत् है, क्योंकि वह मायामय है अतएव परिशेष से वास्तविक अद्वैत ही जानना चाहिये ।

प्रतीति मात्र का निषेध करते-करते जहाँ अन्य में वह बाध नहीं हो सकता उसको सत्य मान लेना ही परिशेष कहलाता है । इस प्रकार अनिर्वचनीय होने से द्वैत को मिथ्या निश्चत कर अद्वैत में सत्यता है यह परिशेष से समझ लेना चाहिये । इस पर भी पुनः द्वैत की सत्यता प्रगट होती है तो फिर विचार ही करना चाहिये, क्योंकि मिथ्या अविद्या कल्पित द्वैत की निवृत्ति विचार के बिना कोटि प्रयत्न से भी दूर नहीं हो सकती है । यही बात व्यासजी ने वेदान्त

दर्शन के चतुर्थाध्याय के "**आवृत्तिरसकृदुपदेशात्**" सूत्र में कही है कि आत्मा का श्रवणादि वारम्बार करते रहना चाहिये । याने साधक को द्वैत आक्रमण से बचने के लिये विवेक के साधन को ही दोहराते रहना चाहिये । जब तक सम्पूर्ण अनर्थ की निवृत्ति रूप अद्वैत तत्त्व का पूर्ण बोध नहीं होता तब तक ही यह विचार रूप कष्ट उठाना पड़ता है । अद्वैत बोध में तो यह साधन का कष्ट किंचित् भी करना ही नहीं पड़ता ।

प्रश्न- ६८ : अद्वैत तत्त्व का बोध होने पर भी भूख प्यास की प्रतीति क्यों होती है ?

उत्तर : अद्वैत आत्मा को प्रत्यक्ष जान कर भी भूख प्यास आत्मा में प्रतीत होते हैं तब तो आप का अद्वैत ज्ञान हँसने योग्य ही है । भूख-प्यास तो अहंकार में दीखते हैं और प्राण का धर्म है । उसमें भी न दिखाई दे यह तो कोई नहीं कहता । भावार्थ यह है कि "मैं" के दो अर्थ हैं । एक वाच्यार्थ में 'अहंकार' और दूसरा लक्ष्यार्थ मे ं 'चिदात्मा' । चिदात्मा तो असंग है और क्षुधा-पिपासा आदि का अविषय है । इसलिये वे भुख-प्यास अंहकार में ही है और चिदात्मा में अध्यास से भूख प्यास प्रतीत होते हैं तो उसकी निवृत्ति हेतु सदा विवेक करना चाहिये ।

यदि अनादि काल की दृढ़ वासनाओं के कारण गया हुआ अध्यास याने निवृत्त हुई भ्रांति पुनः लौट आवे तो विवेक वासनाओं को दृढ़ करने के लिये सदा विवेक की आवृत्ति करतनी चाहिये । अध्यास की निवृत्ति के लिये दूसरा कोई और उपाय नहीं है ।

प्रश्न-६९ : अचिन्त्य रचनात्व यदि मिथ्या माया का लक्षण है तब आत्मा में भी अचिन्त्यता लक्षण की अति व्याप्ति होने से नित्य कैसे होगा ?

उत्तर : आत्मा अचिन्त्य रचना वाला हो तो भले हो, नित्य पदार्थों की रचना ही नहीं होती । और जो प्राग भाव से युक्त हो तथा सथ ही अचिन्त्य

रचना रूप हो वही हमारे मत में मिथ्या पदार्थ है । चिति (आत्मा) तो नित्य है वह प्रागभाव से युक्त नहीं है ।

यदि कहो कि घट की तरह चेतन का प्राग भाव (बनने के पूर्व की स्थिति) है तो उससे यह पुछते हैं कि चेतन के प्रागभाव को कौन अनुभव करता है ? चेतन या अन्य जड़ ? अन्य जड़ तो अनुभव कर नहीं सकता । यदि चेतन अनुभव करत है तो वह चेतन स्वयं है अथवा अपने से भिन्न चेतन है ? अद्वैत मत में दूसरा चेतन है ही नहीं । यदि दूसरा चेतन मान भी लें तो भी चेतन के प्रतियोगी अर्थात् जिस चेतन का अभाव होता है, उसके अभाव के चेतन के अनुभव किये बिना अनुभव नहीं किया जा सकता और चेतन को भी अनुभव का विषय अनुभाव्य मान लेंगे तो वह घटपटादि पदार्थों की तरह दृश्य जड़ अचेतन हो जायेगा । यदि अपने अभाव (प्राग भाव) को अनुभव करने वाला स्वयं चेतन को माने तो यह असंभव है, क्योंकि अपने अभाव को अपने आप काई अनुभव नहीं कर सकता ।

द्वैत के प्रागभाव को तो चैतन्य अनुभव करता ही है । जाग्रत, स्वप्न आदि द्वैत का अभाव सुषुप्ति में साक्षी से जाना जाता है । श्रुति में भी कहा है कि (तमस साक्षी सर्वस्य साक्षी) अर्थात् अज्ञान का साक्षी और सबका साक्षी चैतन्य आत्मा ही है । चेतन नित्य है, माया अनित्य है । प्राग भाव से युक्त होने के कारण द्वैत घट आदि के समान रचा जाता है । तथापि इस की रचना अचिन्त्य है, इन्द्रजाल के समान किसी के समझ में नहीं आती । जो वस्तु रचीजाती है और उसकी रचना अचिन्त्य हो उसे मिथ्या कहते हैं ।

स्व प्रकाश होने से चिति (आत्मा) तो नित्य और प्रत्यक्ष है ही । उससे अन्य जो द्वैत है उसका मिथ्यापन का अनुभव भी उसे ही होता है । यह सिद्ध हो जाने पर भी यह कहना कि उसका प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा ही मिथ्या है जैसे कोई कहे मुख में जीभ नहीं है अर्थात् समस्त भाव अभाव का अनुभविता अपना आत्मा अचिन्त्य होते हुए भी प्रत्यक्ष अनुभव स्वरूप है ।

प्रश्न - ७० : तत्त्वज्ञान प्राप्त मुमुक्षु को क्या फल की प्राप्ति होती है ?

उत्तर : जब इस मुमुक्षु के हृदय में स्थित इच्छा रूप सब काम छूट जाते हैं अर्थात् हृदय मे स्थित तादात्म्याध्यास के कारण उत्पन्न हुए इच्छादि काम तत्त्वज्ञान द्वारा अध्यास के हट जाने पर निकल कर भाग जाते हैं । तब ही यह देह के साथ तादात्म्याध्यास के कारण मरण स्वभाव पुरुष अध्यास (भ्रांति) के अभाव के कारण मरण रहित (अमृत) हो जाता है, क्योंकि इस देह में ही यह ब्रह्म को भली भाँति प्राप्त कर लेता है । कठोपनिषद ६-१४ में भी ऊपरोक्त भाव को स्पष्ट कहा है ।

यदा सर्वे प्रमुच्यते कामायेऽस्य हृदिश्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।।

जब सब हृदय ग्रन्थियाँ खुल जाती है इस वाक्य से श्रुति के पूर्व उद्धृत वाक्य में कामनाओं के ''ग्रन्थि'' कहा गया है । अर्थात् यहाँ ग्रन्थि भेद का अर्थ कामना निवृत्ति है तथा अहंकार एवं चिदात्मा के तादात्म्य अध्यास की निवृत्ति रूप ग्रन्थि भेद अनुभव सिद्ध है ही, इसलिये श्रुति ने तत्त्वज्ञान का जो फल काम निवृत्ति बताया है वह प्रत्यक्ष ही है ।

प्रश्न- ७१ : कौनसी इच्छाएँ अध्यास मूलक हैं जो कामना के अन्तर्गत होकर बन्धन रूप होती है ?

उत्तर : अहंकार और चिदात्मा को भ्रांति (अध्यास) के कारण एक मानकर ''यह भी मुझे मिले यह भी मुझे मिले'' मेरे पति को अमुक मिल जावे । मेरे लड़के को अमुक मिल जावे इत्यादि इच्छायें करना ही काम कहलाती है । सब इच्छाओं का नाम 'काम' नहीं है । श्रुति में काम का अर्थ ग्रन्थि है अर्थात् अंहकार और चिदात्मा को एक मानना है, इच्छा का नाम काम नहीं है । जो इच्छायें अध्यास मूलक नहीं है वे रूकावट न डालने के कारण ग्रहण की जाती है ।

चिदात्मा को अहंकार में प्रविष्ट न कर अर्थात् तादात्म्याध्यास चिदात्मा का अंहकार में अन्तर्भाव न करके अहंकार को चिदात्मा से पृथक् देखता हुआ देह, इन्द्रिय एवं अन्तःकरण से कोई चाहे करोड़ों वस्तुओं की इच्छा, चेष्टा, भोग करता रहे, किन्तु ग्रन्थि भेद अर्थात् अहंकार से चैतन्यात्मा को पृथक् साक्षी द्रष्टा रूप जानने से उन समस्त इच्छा चेष्टा भोग के कारण उसके साक्षी आत्मा का अथवा बोध (ज्ञान) और मोक्ष का बाध नहीं होता ।

अभिप्राय यह है कि अध्यास मूलक कामनाएँ ही त्याज्य है, सब नहीं । जो साधक इतने चतुर हो जाते हैं कि चिदात्मा का मन में प्रवेश न करके अर्थात् तादात्म्य अध्यास का अन्तर्भाव न करके चाहे कोटि वस्तुओं की इच्छा करता हुआ होने पर भी अंहकार के धर्म आभास रूप इच्छादि के कारण पूर्व की भ्रांति ज्ञानी के साक्षी स्वरूप का बाध नहीं होता, क्योंकि तत्त्वज्ञान द्वारा जब भ्रांति हट जाती है तब तादात्म्य नहीं रहता और तब ज्ञानी को साक्षी में ''मैं कर्ता हूँ'' इत्यादि मिथ्या अभिमान भी नहीं होता ।

प्रश्न- ७२ : क्या अध्यास की निवृत्ति के पश्चात ज्ञानी को इच्छा का होना संभव है ?

उत्तर : ग्रन्थि भेद हो जाने पर याने मन को आत्मा से पृथक् कर्ता-भोक्ता रूप जान लेने पर व आत्मा को असंग अकर्ता, अजन्मा, अबिनाशी रूप जान लेने पर भी प्रारब्ध दोष के कारण इच्छाओं का होना संभव है । अर्थात् प्रारब्ध कर्म की प्रबलता से अध्यास हीन ज्ञानी को भी कामनायें बनी रहती है, परन्तु वे जले बीज की तरह नीर्बीज रहती है । अर्थात् पुनःदेह बन्धन में नहीं डाल सकती । अहंकार के अभाव में अहंकार गत इच्छादि में से कोई बाधक नहीं होता ।

जैसे देह के भूख-प्यास, रोगादियों से या वृक्षादि दृश्य पदार्थों के उत्पन्न अथवा नष्ट होने से अंहकार के साक्षी आत्मतत्त्व का बाध नहीं होता, उसका कुछ बिगड़ता नहीं ऐसे ही ग्रन्थि भेद हो जाने पर अहंकार में वर्तमान

जो इच्छा आदि है उनसे देह संबन्ध से रहित चितरूप आत्मा में अध्यास की निवृत्ति हो जाने पर मन के अन्तर्गत होने वाली समस्त इच्छा चेष्टा भोगादि धर्मों से भी साक्षी आत्मा का बाध नहीं होता ।

प्रश्न - ७३ : चिदात्मा तो ज्ञान हाने से पूर्व भी असंग एक रूप ही है तब ज्ञान से लाभ क्या ?

उत्तर : चिदात्मा ग्रन्थि भेद होने से पूर्व भी इन काम आदि से असंग एक रूप है ऐसा ही तो जानना ज्ञान कहलाता है । बिना ज्ञान हुए मैं असंग हूँ, मैं ब्रह्मरूप हूँ ऐसी वृत्ति उदय ही नहीं होती । अतः ऐसा जान लेना तो स्वयं ग्रन्थि भेद ही है । यदि यह ग्रन्थि भेद हो गया अर्थात् तुमने अपने आत्मा को मनादि के धर्म से अलग जान लिया तो तुम इतने जानने मात्र से सफल हो जाओगे । ऐसा ज्ञान न होना ही तो ग्रन्थि (गांठ) है । और मूर्खो को ऐसा ज्ञान नहीं होता है कि मेरा आत्मा असंग नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप है और यह न जानना ही ग्रन्थि है । इसके अतिरिक्त ग्रन्थि किसी दूसरे पदार्थ का नहीं है ।

न मोक्षो नभसः पृष्ठ ना पाताले न भूतले ।
अज्ञान हृदय ग्रन्थि नाशो मोक्ष इति स्मृतिः ।।

मोक्ष नाम का पदार्थ न आकाश में, न पाताल में, न पृथ्वी पर है । चिदात्मा देह मनादि का एकाकार भाव ही अज्ञान है । इसी को ग्रन्थि कहते हैं । विद्या से इसका नाश होना ही मोक्ष है ।

मूढ़ और ज्ञानी में यही अन्तर है कि -

''जीव हृदय तम मोह विशेषी, ग्रन्थि छुट किमि परई न देखी''

- रामायण उत्तर काण्ड

अज्ञानी के हृदय में अज्ञान रूपी अन्धकार विशेष होने से उसे यह भेद मालूम ही नहीं होता कि मेरा आत्मा असंग है किन्तु आत्मा अनात्मा विवेक

से -

तब सोई बुद्धि पाई उजियारा, उर गृह बैठि ग्रन्थि निरूआरा ।
छोरन ग्रन्थि पाव जौ सोई, तब यह जीव कृतारथ होई ।।

- रामायण

अपने हृदय की गाँठ खुल जाती है और वह कृतार्थ हो जाता है । श्रुति भी कहती है -

भिद्यते हृदय ग्रन्थिशिछद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।

- मुण्डक.उप. २/२/८

उस परावर ब्रह्म का आत्मा रूप से साक्षात्कार कर लेने पर इस ब्रह्म ज्ञानी के हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है । और संशय कट जाते हैं तथा समस्त संचित् पाप-पुण्य क्षीण हो जाते हैं । तथा देह से कर्म होने पर भी बन्धन रूप नहीं होता । स्मृति भी कहती है -

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।
उदासीन वदासीन इति ग्रन्थि भिदोच्यते ।।

आये हुए दुःखों से तो ज्ञानी द्वेष नहीं करता और जाते हुए सुखों को चाहता नहीं । वह केवल उदासीन की भाँति रहने लगता है इसी को ग्रन्थि भेद कहते हैं ।

अर्थात् यों तो इच्छादि ज्ञानी को भी होते हैं लेकिन वह उदासीन की तरह भोगता है इसलिये अज्ञानी और ज्ञानी का भेद भोग के ग्रहण एवं त्याग से नहीं है बल्कि भेद ग्रन्थि के लगे रहने और उसका भेद होने में ही है । याने आत्मा को मन के धर्मों से पृथक् जानने व न जानने से ही ज्ञानी-अज्ञानी का भेद माना जाता है ।

यदि कहो कि ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी के देह, इन्द्रिय मनादि विषय

गहण करने में अंधे, बहरे, पंगु, नपुंसक, मूक की तरह हो जाते हैं । तब तो यह ज्ञान क्या हुआ ? एक रोग ही है जो ज्ञानी के शरीर को अशक्त कर देता है । जो तत्त्व बोध को क्षयरोग ही मानते हैं उनकी बुद्धि बहुत मलिन एवं हँसने योग्य ही है ।

प्रश्न - ७४ : भरत की संसार में अप्रवृत्ति पुराणों में क्यों लिखी हुई है ?

उत्तर : यह कहना श्रुति से अनभिज्ञता का ही सुचक है क्योंकि छान्दोग्य उप. ८/१२/३ में निम्न वाक्य है ।

''जक्षन् क्रोड़न रममाणः स्त्रीभिवो यानैर्वाक्यस्यैर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्''

अर्थात् वह उत्तम पुरुष ज्ञान को प्राप्त होकर उस अवस्था में हँसता, क्रीड़ा करता, स्त्री, सवारी अथवा ज्ञानी जन के साथ रमण करते हुए भी अपने आप उत्पन्न हुए इस शरीर को ''मैं शरीर हूँ'' इस प्रकार स्मरण न करता हआ सब ओर विचरता है । गीता स्मृति भी कहती है -

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्न श्नन्गाच्छन्स्वपञ्श्वसान् ॥
प्रलपन्वि सृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्नि मिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

-५/८/९

तत्त्ववेत्ता पुरुष देखते, सुनते, स्पर्श करते, सुंघते हुए, खाते, हुए, चलते हुए, उँघते हुए, श्वास लेते हुऐ, बोलते हुए, मलत्याग करते हुए, ग्रहण करते हुए, नेत्र खोलते बन्द करते हुए भी इन्द्रियाँ अपने-अपने गुण में ही वर्त रही है, मैं कुछ भी नहीं करता ऐसा मानता है अर्थात् सब करते हुए भी अपने आत्मा के प्रति अकर्ता एवं असंग बना भाव रहता है ।

पुराण में जड़ भरत की कथा में भरत के लिये भी अप्रवृत्ति का वर्णन

नहीं है । भरतादि आहारादि को छोड़कर लकड़ी या पत्थर की तरह कहीं पड़े नहीं रहते थे । अपितु राजा रहुगण गणादि को उपदेश प्रदान करते हुए एवं संग दोष लग जाने के भय से उदासीन रहते थे । ज्ञान व्यक्ति के जीवन को सुन्दर बनाता है अपंग नहीं बनाता है । यदि अपंगता दीखे तो रोग का फल जानें ज्ञान का फल नहीं समझें ।

प्रश्न– ७५ : अन्तः संग से शून्य बाहर से व्यवहार में आसक्त तत्त्वज्ञानी को लोग मूर्ख क्यों कहते हैं ?

उत्तर : मूर्ख लोंग शास्त्र के रहस्य को जाने बिना कुछ का कुछ करते रहते हैं । उनके निर्णय को सिद्धान्त नहीं माना जाता । अज्ञानी भला ज्ञानी को अच्छा या बुरा कहे इससे ज्ञानी की प्रामाणिकता नहीं मानी जाती ।

प्रश्न– ७६ : तत्त्वज्ञानी के लिये शास्त्र का क्या सिद्धान्त है ?

उत्तर : तत्त्वज्ञानी के लिये वैराग्य, बोध और ऊपरति ये तीन परस्पर सहायक हैं । ये तीनों प्रायः एक साथ रहते हैं व कहीं कहीं अलग भी हो जाते हैं । शुक और वाम देव सरीखे प्रतिबन्धक कर्म रहित अनुकूल, देश कालादि युक्त निवृत्ति वाले पुरुषों में तो ये तीनों प्रायः साथ साथ रहते हैं तथा प्रतिबन्धक कर्म सहित, प्रतिकूल देश कालादि युक्त शास्त्रीय एवं लौकिक व्यवहार में प्रवृत्ति रखने वाले जनकादि पुरुषों में कहीं-कहीं परस्पर वियुक्त भी रहते हैं । इन वैराग्य आदि के हेतु, स्वरूप और कार्य (फल) भिन्न-भिन्न है । इसलिये ये तीनों एक नहीं हैं । वैराग्य के हेतु स्वरूप और फल यह समझें कि विषयों में दोष दृष्टि उनके त्याग की इच्छा और भोगों के प्रति दीनता का न रहना ये तीनों वैराग्य के क्रमशः असाधारण कारण, स्वरूप और फल है ।

बोध के हेतु श्रवण, मनन और निदिध्यासन है ।

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यःश्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्य "

इस प्रकार श्रृति ने श्रवणादि को आत्म दर्शन का साधन बतलाया है ।

आत्मा अनात्मा के विवेचन का अर्थ कूटस्थ और अहंकारादिकों का भेद ज्ञान है । यही तत्त्वज्ञान है । देह में आत्मभाव का पुनः उदय न होना ही तत्त्वज्ञान का फल है । ऊपरति का हेतु अष्टांग योग है । बुद्धि अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध रूप योग ऊपरति का स्वरूप है और लौकिक वैदिक व्यवहारों का सम्यक् क्षय अथवा विस्मरण ऊपरति का फल है ।

इस प्रकार एक साथ रहने वाले वैराग्य, तत्त्वबोध और ऊपरति इन तीनों का हेतु, स्वरूप तथा फल जानना चाहिये । तत्त्वबोध इन तीनों में प्रधान है क्योंकि साक्षात् मोक्ष का दाता है । श्रुति में भी यह -

''**तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**''

कहकर तत्त्वबोध को ही साक्षात् मोक्ष दाता बताया है । वैराग्य और ऊपरति दोनों तत्त्वबोध के सहायक साधन है । ऐसा श्रृति कहती है -

''**ब्राह्मणो निर्वेद मायान्नस्त्यकृतः कृतेन**''

अर्थात् लोकों को कर्मरचित जानकर नश्वर समझकर ब्रह्म होने की इच्छा वाला मुमुक्षु ब्राह्मण वैराग्य को धारण करता है । और फिर प्रत्यक अभिन्न ब्रह्म को जानने के लिये मुमुक्षु गुरु के समीप जावे और शांत, दांत, उपरत और तितिक्षु होकर आत्मा में ही आत्मा को देखे । इस प्रकार इन श्रृतियों से वैराग्य और ऊपरति तत्त्वबोध के सहायक साधन होते हैं । मोक्ष का मुख्य साधन तो केवल एक आत्मज्ञान ही है ।

प्रश्न - ७७ : तत्त्वबोध के साथ वैराग्य एवं ऊपरति रहने व न रहने में क्या कारण है ?

उत्तर : यदि तत्त्वबोध, वैराग्य और ऊपरति तीनों एक साथ परिपक्व अवस्था में रहे तो उन तीनों का परिपक्व होना महान तप का फल जानें और पापकर्म के कारण किसी किसी में कुछ (कोई-कोई) का कभी-कभी प्रतिबन्ध (अभाव) हो जाता है ।

अनेक जन्मों में कमाये हुए पुण्यों के परिपाक से ये तीनों इकट्ठे हो पाते हैं । अन्यथा तो ये प्रतिबन्धक पाप के अनुसार किसी पुरुष में तथा काल विशेष में इन तीनों में से किसी एक या दो का भी अभाव हो जाता है ।

प्रश्न-७८ : यदि वैराग्य व ऊपरति परिपक्व हो एवं तत्त्वबोध न हो तो क्या फल होता है ?

उत्तर : जिसको वैराग्य और ऊपरति तो पूर्ण हो चुकें हों परन्तु आत्मबोध न हुआ हो तो उसका मोक्ष नहीं होता है । हाँ वैराग्यादि का सम्पादन व्यर्थ नहीं होता । स्मृति गीता कहती है -

प्राप्य पुण्य कृतान् लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योग भ्रष्टोऽभिजायते ।।

- गीताः ६/४१

जिस व्यक्ति को बोध के साधन वैराग्यादि तो प्राप्त है पर बोध नहीं हुआ तो उसे योगभ्रष्ट कहते हैं । योगभ्रष्ट पुरुष पुण्य लोकों में बहुत वर्षों तक निवास कर लौट कर श्रीमान् के घर में जन्म लेता है और फिर पूर्व जन्म की अधूरी साधना को बार-बार अभ्यास कर एक या दो जन्म में पुरी कर तत्त्वबोध को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त हो सकता है ।जो पुरुष तत्त्वबोध को प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता है तो उसका पुण्य भोग कर सकाम कर्मी की तरह जन्म-मरण रूप कष्ट को भोगता रहता है ।

प्रश्न - ७९ : तत्त्वबोध हो जावे एवं प्रतिबन्धक कर्मों से वैराग्य एवं ऊपरति न हो तो क्या फल प्राप्त होगा ?

उत्तर : बोध पूर्ण हो जाने पर बन्ध का कारण भूत अविद्या के निवृत हो जाने से पुनः अविद्या की उत्पत्ति न होने के कारण अन्य दोनों वैराग्य और ऊपरति रूक जावे तो भी मोक्ष तो निश्चित है ही । परन्तु वैराग्य और ऊपरति के अभाव में उसे जीवन मुक्ति का विलक्षण आनन्द प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि रजोगुण व तमोगुण की वृद्धि से सत्त्वगुण का अभाव-सा हो जाता है ।

इसलिये लोक में होनेवाले अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थों से उत्पन्न विक्षेप रूप दृष्ट दुःख की निवृत्ति नहीं होती है । बोध हो जाने के कारण परलोक सम्बन्धी अदृष्ट दुःख तो अभाव ही रहता है ।

प्रश्न- ८० : तत्त्वबोध, ऊपरति तथा वैराग्य की सीमा क्या है ?

उत्तर : अज्ञानी लोग देह को मैं (आत्मा) जितनी दृढ़ता से समझते हैं, उतनी ही दृढ़ता से परब्रह्म को आत्मा समझ लेने पर बोध की समाप्ति होती है ।

ब्रह्मलोक को भी तीनके के समान तुच्छ जान लेना वैराग्य की अवधि मानी गई है ।

सुषुप्ति की तरह जगत की विस्मृति बुद्धि में निश्चय हो जाना अपरति की सीमा है ।

प्रश्न -८१ : प्रारब्ध कर्मों की विलक्षणता से क्या ज्ञानी उच्च तथा नीच अवस्था को प्राप्त होते हैं ?

उत्तर : प्रारब्ध कर्मों के विविध होने से ज्ञानी लोगों के आचरण भी विविध होते हैं । पण्डित लोग उनके आचरणों की विविधता (भेद) को देखकर शास्त्र के अर्थ मोक्ष के विषय में भ्रम में न पड़े अर्थात् प्रवृत्ति प्रधान ज्ञानी एवं निवृत्ति प्रधान ज्ञानी जनक तथा शुकादि को समान ही मोक्ष है । जैसे व्याधि (शारीरिक रोग) आदि प्रारब्ध कर्म के फल होते हैं वैसे ही तत्त्व ज्ञानियों के रोग आदि भी प्रारब्ध कर्म के ही फल हैं । वे मुक्ति के प्रतिबन्ध (रूकावट डालने वाले) नहीं हो सकते ।

वे ज्ञानी अपने-अपने कर्मों के अनुसार जैसा व्यवहार करते हैं करें पर उन सबको ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस रूप से जो ज्ञान होता है वह किसी का किसी से विशेष नहीं होता चाहे वह शुकदेव हो कि जनक हो । एक जैसा ज्ञान होने से निष्पाप ब्रह्म रूप से मुक्ति भी सबको समान है । यही सबको निश्चय उनके

प्रति तथा अपने प्रति करना कर्त्तव्य है ।

अतः यह जगत् रूपी चित्र अपने आत्मा रूपी पर्दे पर ही खींचा हुआ है । उस जगत् रूप चित्र की उपेक्षा करके अपने आत्म चैतन्य को ही अपना शेष शुद्ध स्वरूप जानो । तथा जगत् रूप चित्र को देखते हुए भी उसमें अज्ञान अवस्था की तरह सत्यत्व बुद्धि रखकर मोहित नहीं होना चाहिये ।

प्रश्न - ८२ : आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान होने से क्या लाभ है ?

उत्तर : यदि जीव आत्मा को ''यह मैं हूँ'' इस प्रकार जान ले तो फिर वह आत्मा की पूर्णता, अखंडता, आनन्दता, अबिनाशीता आदि स्वरूप को समझता हुआ किसी भोग्य विषय को चाहता हुआ और भोक्ता के किस भोग के लिये शरीर के पीछे दुःख उठाता फिरेगा ? अर्थात् आत्मज्ञानी सर्वत्र अपनी पूर्णता का अनुभव करते हुए नश्वर शरीर एवं उसके नश्वर क्षणिक भोगों के पीछे अज्ञानी की तरह कामान्ध होकर प्राप्त करने की अभिलाषा से दुःखी नहीं होता है, क्योंकि आत्मज्ञान से ही कामनाओं के शान्त हो जाने पर फिर उसे इस लोक से ब्रह्म लोक तक के भोगों से वैराग्य हो जाता है । इसलिये तत्त्ववेत्ता कामना रहित होने से जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाता है । उसके प्राण अज्ञानी की तरह अन्य लोक में नहीं जाते हैं, यहीं मूल तत्त्वों में लय हो जाते हैं ।

प्रश्न - ८३ : माया तथा अविद्या का स्वरूप एवं कार्य कया है ?

उत्तर : चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म के प्रतिविम्ब से युक्त और सत्त्व, रज, तमोगुण रूप जो जगत् का उपादान (प्रकृति) है उसे माया कहते हैं । वह प्रकृति सत्त्वगुण की शुद्धि और अशुद्धि से दो प्रकार की होकर माया एवं अविद्या रूप होती है । अर्थात् विशुद्ध सत्त्व प्रधान को माया और मलिन सत्त्व प्रधान को अविद्या कहते हैं । माया में प्रतिविम्बित ब्रह्म को ईश्वर और अविद्या में प्रतिविम्बित ब्रह्म को जीव कहते हैं । माया और अविद्या आभास से जीव और ईश्वर को करती है । इससे जीव और ईश्वर माया से कल्पित है

और माया भी स्वयं ब्रह्म में कल्पित है । अर्थात् कल्पित माया से कल्पित जीव तथा ईश्वर हुए और उन जीव ईश्वर को कल्पना का यह समस्त व्यष्टि-समष्टि रूप जगत् है ।

एक से मैं अनेक होऊँ यहाँ से लेकर पंचभूत तथा जीव के अन्दर प्रवेश होने तक ईश्वर कृत सृष्टि कहलाती है तथा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से मोक्ष पर्यन्त की सृष्टि जीव की कल्पित है, ऐसा शास्त्र से ज्ञात होता है ।

प्रश्न - ८४ : जीव किसे कहते हैं, उसका कार्य क्या है तथा वह कैसे मुक्त होता है ?

उत्तर : यह चारों ओर से माया से मोहित हुआ आत्मा ही शरीर को 'मैं' अविद्या से मानता हुआ सब कर्मों को करता है । जाग्रत अवस्था में वही जीव स्त्री, अन्न, पान, आदि विविध भोगों में तृप्ति अनुभव करता है । स्वप्न में भी वही जीव अपनी ही माया से कल्पित जाग्रत की तरह कल्पित स्वप्न लोक में दुःख-सुख का भोक्ता बनता है । और सुषुप्ति के समय वही जीव तमोगुण से तिरस्कार प्राप्त होकर सुख रूप होता है और फिर जन्मान्तर के कर्मों के अधीन होकर वही जीव सोता है एवं जाग्रत अवस्था में पहुँच जाता है । जो जीव जाग्रतादि तीन अवस्थाओं में अथवा शरीर रूप पुरियों में क्रीडा करता है उसी जीव से सम्पूर्ण विचित्र मनोमय सृष्टि रची गई है । जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति आदि प्रपंच को जो प्रकाशित करता है वह मुझ ब्रह्म का ही रूप है । अर्थात् ''वह ब्रह्म मैं हूँ'' ऐसा जान कर जीव सब बन्धनों से मुक्त होता है । इस भाव को कैवल्योपनिषद में निम्न श्लोक द्वारा कहा गया है -

जाग्रत स्वप्न सुषुप्त्यादि प्रपंच यत्प्रकाशते ।
तद् ब्रह्माह मिति ज्ञात्वा सर्व बन्धैः प्रमुच्यते ॥

प्रश्न-८५ : पुरुष शब्द का अर्थ क्या है ?

उत्तर : जो कूटस्थ, असंग, चित स्वरूप, अविकारी है तथा देह इन्द्रियादि के अध्यास रूप भ्रम का अधिष्ठान परमात्मा है । यद्यपि वह

असंग है तो भी अनन्योध्यास से अर्थात् चिदाभास एवं कूटस्थ एक दूसरे के धर्मों में अभिमान करके सम्पूर्ण व्यवहारों का भागी होता है - इस प्रकार बुद्धि में स्थित जो जीव सच्चे संबन्ध से रहित बुद्धि में अपने रूप से वर्तता हुआ जीव होकर श्रुति में पुरुष कहा गया है । यह पुरुष ही सब पुरियों में, देहों में शयन करता है इसलिये पुरुष कहालाता है ।

अभिप्राय यह है कि बुद्धि आदि की कल्पना अधिष्ठान जो कूटस्थ चैतन्य है वही बुद्धि में प्रतिविम्बित होकर जीव बना हुआ ''पुरुष'' कहलाता है ।

प्रश्न - ८६ : जीव कब बँधता है तथा कब मुक्त होता है ?

उत्तर : जीव जब कूटस्थ आत्मा की चिदाभास सहित शरीरों को निज रूप स्वीकार कर लेता है और शरीर के धर्मों के साथ तादात्म्यता कर अपने को सुखी-दुःखी, जन्म-मृत्यु धर्म वाला मानने लगता है तब यह वास्तव में स्वरूप से मुक्त होता हुआ भी अज्ञानता से बन्धन को प्राप्त होता है । जब फिर यह जीव किसी सद्गुरु मुख से वेदों के महावाक्य का उपदेश लक्षणा से जान लेता है, तब स्थूल, सूक्ष्म देहों के सहित चिदाभास को दृश्य रूप जानकर तिरस्कार कर देता है । अर्थात् मिथ्या समझकर उसमें अहं बुद्धि (मैं बुद्धि) नहीं करता और अधिष्ठान रूप आत्मा को ही अपना वास्तविक रूप स्वीकार कर लेता है । तब ''मैं चिदात्मा हूँ'' ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा संशय, विपर्यय रहित जानकर स्वरूप से मुक्त हुआ भ्रान्ति से मुक्तता को प्राप्त होता है । क्योंकि वास्तव में तो आत्मा कभी बन्धन को प्राप्त हुआ ही नहीं था ।

प्रश्न-८७ : अहं (मैं) शब्द के कितने अर्थ होते हैं, ज्ञानी व अज्ञानी द्वारा मैं कहने में क्या भेद है ?

उत्तर : अहं के तीन अर्थ होते हैं । एक मुख्य तथा दो अमुख्य । कूटस्थ (आत्मा) और चिदाभास का स्वरूप जिन अज्ञानियों को पृथक्-पृथक् प्रतीत न होकर अनन्योध्यास से एक ही प्रतीत होता है । तब यही एक

हुआ स्वरूप वे 'अहं' शब्द द्वारा प्रकट किया करते हैं । इसको अहं का मुख्य अर्थ इसलिये कहते हैं कि इसे सभी जानते हैं ।

आभास और कूटस्थ अंह शब्द के दो अमुख्य अर्थ ज्ञानियों द्वारा प्रयोग किये जाते हैं । अज्ञानियों द्वारा 'अहं' शब्द आत्मा का वाच्य है और ज्ञानी द्वारा 'अहं' शब्द आत्मा का लक्ष्यार्थ बोधक है, क्योंकि तत्त्वज्ञानी लोग इन दोनों अर्थों में लौकिक तथा वैदिक व्यवहारों में पर्याय से 'अहं' शब्द का प्रयोग करते हैं ।

भावार्थ यह है कि चिदाभास और कूटस्थ के एक रूप को सब अज्ञानी व्यवहार में लाते हैं । वह उसका वाच्य अर्थ है । और कूटस्थ एवं चिदाभास का पृथक्-पृथक् रूप को कुछ तत्त्ववित् ही कभी विचार के समय में ही व्यवहार में लाते हैं । इसलिये वे उसके अमुख्य अर्थ है और वही अहं शब्द का लक्ष्यार्थ भी है ।

व्यवहार में विद्वान् भी जब ऐसा कहता है कि मैं जाता हूँ, तब वह चिदाभास को कूटस्थ से पृथक् जानकर ही केवल उस चिदाभास के लिये अहं 'मैं' शब्द का प्रयोग जाने की क्रिया में करता है । क्योंकि उसको तब यह ज्ञात होता है कि मेरा आत्मा अचल है और यही विद्वान् विचार काल (शास्त्र अभ्यास) के समय जब यह कहता है कि मैं असंग हूँ, निष्क्रिय हूँ, अविकारी हूँ, ब्रह्म हूँ, सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ तब यह चिदाभास को अपनी आत्मा से पृथक् समझते हुए केवल कूटस्थ में ही अहं शब्द का लक्षणा से प्रयोग करता है । इस प्रकार ज्ञानी एवं अज्ञानी द्वारा 'अहं' शब्द का तीन प्रकार से प्रयोग होता है ।

प्रश्न-८८ : चिदाभास किसे कहते हैं और 'मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसा बोध किसे होता है ?

उत्तर : चेतन के धर्मों से रहित तथा चेतन की तरह प्रतीत होने वाले चेतन के प्रतिविम्ब को चिदाभास कहते हैं । अर्थात् बुद्धि में पड़े चेतन के

प्रतिविम्ब को चिदाभास कहते हैं । और 'मैं असंग हूँ' 'मैं कूटस्थ हूँ', 'मैं आत्मा हूँ', 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का बोध भी इसी चिदाभास को ही होता है । आत्मा में तो ज्ञान पना तथा अज्ञान पना दोनों नहीं है । यह तो चिदाभास में ही ज्ञानीत्व और अज्ञानीत्व पना है । आत्मा इन दोनों भावों का केवल प्रकाश है ।

किन्तु यह चिदाभास अपने विम्ब से पृथक् नहीं है । जैसे दर्पण में गर्दनवाले मुख का प्रतिविम्ब पड़ने पर भी वास्तविक स्वरूप तो ग्रीवा पर लगा हुआ मुख ही है । वही श्रृंगारादि एवं अलंकारादि धारण करते हैं दर्पण वाले मुख में नहीं । ऐसे ही चिदाभास का मुख्य स्वरूप कूटस्थ से भिन्न नहीं है । कारण यह है कि आभासत्त्व तो मिथ्या है अतएव कूटस्थ ही शेष रह जाता है ।

प्रश्न-८९ : जब चिदाभास मिथ्या है तो संसार बन्धन मिथ्याबोध से कैसे छुट सकेगा ?

उत्तर : यह बात सत्य है कि चिदाभास को उदय होने वाला ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि चिदाभास ही जब मिथ्या है तो उसके आश्रित होने वाला ज्ञान भी तो मिथ्या ही होगा । इस बात में कोई दो मत नहीं है । कूटस्थ के अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या ही है । लेकिन संसार बन्धन सत्य होता तो मिथ्याबोध से वह कभी निवृत नहीं होता पर बन्धन भी कहाँ सत्य है ? वह भी तो मिथ्या ही है । इसलिये मिथ्याबोध से आत्मा में मिथ्या प्रतीत होने वाला बन्धन भी निवृत हो जाता है । लोक में भी तो कहते हैं कि जैसा यक्ष वैसी बलि (यक्षानुरूपी ही बलि) जब संसार मिथ्या है तो वह मिथ्या बोध से ही मर जायेगा । जैसे स्वप्न का घाव स्वप्न की ही मिथ्या औषध से दूर हो जाता है ।

तात्पर्य यह है कि कूटस्थ ही चिदाभास का अपना वास्तविक स्वरूप है । इसलिये पुरुष शब्द का वाच्य कूटस्थ सहित चिदाभास ही कूटस्थ को

अपने प्रतिविम्ब रूप चिदाभास से अलग जानकर 'मैं कूटस्थ हूँ' या 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा लक्षणा से जान कर संसार बन्धन को निवृत्त कर सकता है ।

प्रश्न - ९० : मोक्ष का साधन दृढ़ ज्ञान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर : जैसे इस प्रसिद्ध देह रूप आत्मा में सभी अज्ञानीजनों को संशय विपर्यय रहित मैं यह देवदत्, राम दास हूँ ऐसा सहज ज्ञान होता है । वैसा ही संशय विपर्यय से रहित दृढ़ ज्ञान अपने को आत्म रूप से जानने का अथवा 'मैं ब्रह्म हूँ' रूप से हो जाये तो वह न चाहता हुआ भी मुक्त हो जाता है । क्योंकि संसार का हेतु अज्ञान तो उसका ज्ञान द्वारा निवृत्त हो ही चुका है । इस बात का निर्णय करने के लिये श्रृति में ''अयमात्मा ब्रह्म'' कहा है ।

प्रश्न - ९१ : दसवाँ पुरुष का दृष्टान्त बतलाईये ?

उत्तर : एक गाँव से १० व्यक्ति भाँग का नशा कर दूसरे गाँव नाटक देखने हेतु दोपहर से चल दिये । रास्ते में उन्हें एक बहुत बड़ी नदी सी दीखी तो सबने कहा एक दूसरे का हाथ पकड़ ले, ताकि कोई हममें से डूबने लगे तो पता लग जावेगा । सभी ने कपड़ों को ऊपर कर एक दूसरे का हाथ पकड़ कर चलना शुरू किया । चलते-चलते बहुत समय बीत गया किन्तु उनकी नदी का अन्त नहीं आ रहा था तो पीछे मुडकर देखा कि हम कितनी नदी पार कर आये हैं व हममें से कोई डूबा तो नहीं । जब पीछे घूमकर देखा तो क्या देखा ? कि नदी ते बहुत पीछे ही रह गई । तब उन्होंने कहा कि हम अब गिनती करलें यदि हममें से कोई डूबा होगा तो पता लग जावेगा ।

जब उनके मुखिया ने गिना तो उसे नौ पुरुषों का प्रत्यक्ष होता हुआ भी भ्रान्ति से अपने को न गिनकर चिल्ला उठा अरे ! हममें से एक डूब गया है । फिर दूसरे से पूछा कि वहं दशम पुरुष तुम्हें मालुम है ? तो कहता है कि मुझे प्रतीत नहीं होता । दशम नहीं है उसके इस व्यवहार का कारण अज्ञान का कार्य आवरण है । फिर तो उस दशम को नदी में डूब कर मर जाने के दुःख में सभी रोने लगे और काफी विक्षेप को प्राप्त हुए ।

उस समय किसी व्यक्ति को आते देख उन्होंने पूछा कि क्या आपको हमारा एक साथी दसवाँ पुरुष पीछे नदी में डूबता, तैरता, मरा या जिन्दा दीखा ? उसने कहा नहीं तो । तब वह और जोरों से रोने लगे तो उस नूतन व्यक्ति ने उससे सब घटना का वृतान्त सुना व सोचा कि यहाँ तो कोई नदी भी नहीं है और ये पूरे दस ही हैं कम नहीं है । तब उसने कहा कि दसवाँ है मरा नहीं है । यह परोक्ष वचन सुनकर उनका रोना बन्द तो हो गया । इस प्रकार परोक्ष ज्ञान दसवों का होने पर भी उन्हें यह ज्ञान नहीं हो सका कि वह कहाँ है और कौन है ? तब उस यथार्थवादी से फिर पूछा कि भाई ! बताइये वह कौन है ? तब उस व्यक्ति ने नौ को उसकी तरह गिनकर बतादिया व 'दसवाँ पुरुष तू है' इस प्रकार अपरोक्ष बोध करा दिया । तब ''मैं दसवाँ हूँ'' ऐसा जानकर वह हर्षित हो उठता है । उसे शान्ति मिल जाती है तथा सब चिन्ता दूर हो जाती है ।

प्रश्न- ९२ : दशम पुरुष को सात अवस्थाओं की तरह चिदात्मा में सात अवस्था किस प्रकार है ?

उत्तर : अज्ञान, आवरण, विक्षेप शोक, भ्रांति परोक्ष तथा अपरोक्ष रूप दो प्रकार का ज्ञान, तृप्ति और शोक निवृत्ति ये जो सात अवस्थाएँ दृष्टान्त भूत दसवें पुरुष में है वही सातों द्राष्टान्तिक चिदात्मा में भी निम्न प्रकार से हैं ।

यह चिदाभास संसार अर्थात् विषय सम्पादन आदि के ध्यान में मस्त होकर श्रुति विचार से पहले कभी अपने भी स्वरूप स्वप्रकाश चेतन रूप कूटस्थ प्रत्यगात्मा को नहीं जानता । उसका यह न जानना ही अज्ञान है ।

यदि कोई विद्वान् इससे चिदात्मा के सम्बन्ध में पूछे तो कह देता है कि कूटस्थ न तो मुझे भासता है और न वह है ही । ऐसा उसका कहना ही अज्ञान का कार्य आवरण है, और कूटस्थ की असत्ता के कथन समान मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ यह अपने में आरोप करता है । इस आरोप का हेतु जो

स्थूल, सूक्ष्म रूप दोनों देहों से से युक्त चिदाभास है वही विक्षेप है ।

फिर किसी संत के उपदेश से वेदान्त के अवान्तर वाक्य के परिणाम स्वरूप 'कूटस्थ' है, ऐसा श्रुत ज्ञान हो जाता है । यह जानना ही उसका परोक्ष ज्ञान है । फिर श्रवण, मनन, निदिध्यासन के परिणाम स्वरूप विचार करने से ब्रह्माभिन्न प्रत्यागात्मा रूप ''कूटस्थ मैं ही हूँ'' ऐसा जान लेता है यही उसका अपरोक्ष, अनुभव ज्ञान है । अपने निर्विकार असंग आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान हो जाने के बाद कर्तृत्व-भोगतृत्व आदि शोकों को छोड़ देता है - यह शोक नाश है ।

फिर मैंने जो कुछ करना था वह कर लिया, जिसे पाना था वह पा लिया इस प्रकार का सन्तोष (हर्ष) उसको हो जाता है यही तृप्ति है । इस प्रकार अज्ञान, आवरण, विक्षेप, परोक्षज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान, शोक निवृत्ति और निरंकुश तृप्ति ये सातों अवस्थायें चिदाभास की है, कूटस्थ की नहीं है । यदि सातों अवस्थाएँ कूटस्थ की मानेंगे तो फिर वह वेद से प्रमाणित निर्विकार असंग नहीं ठहर सकेगा । अतः ये सातों अवस्था चिदाभास की है, चिदात्मा की नहीं है । किन्तु अज्ञान के कारण उस शुद्ध में यह आरोपित जीव के द्वारा कर दी जाती है । इस सातों अवस्थाओं के अन्तर्गत ही बन्ध-मोक्ष है । पहली तीन अवस्था (अज्ञान, आवरण और विक्षेप) बन्ध स्वरूप है तथा शेष चार बन्ध की निवृत्ति अर्थात् मोक्ष स्वरूप है । बन्ध तथा मोक्ष का हेतु तथा सम्पूर्ण शोक रूप संसार इसी चिदाभास की रचना है ।

प्रश्न- ९३ : परोक्ष ज्ञान तथा अपरोक्ष ज्ञान मुक्ति का हेतु किस प्रकार है ?

उत्तर : परोक्ष एवं अपरोक्ष ज्ञान से आवरण के कारण भूत अज्ञान के नष्ट हो जाने पर उस अज्ञान के कार्यभूत जीव को जो यह भ्रान्ति हो रही थी कि कूटस्थ प्रतीत नहीं होता और ''कूटस्थ नहीं है'' इस प्रकार के दोनों आवरण भी उस स्वरूप भ्रांत पुरुष के नष्ट हो जाते हैं । ''कूटस्थ है'' इस

रूप वाले परोक्ष ज्ञान से असत्त्वापादक आवरण ''कूटस्थ नहीं है'' इस प्रकार की भ्रान्ति की निवृत्ति हो जाती है। मैं कूटस्थ हूँ या वह कूटस्थ तू है इस रूप वाले अपरोक्ष ज्ञान से अभानापादक आवरण ''कूटस्थ प्रतीत नहीं होता'' इस प्रकार की भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है । इस प्रकार परोक्ष तथा अपरोक्ष ज्ञान नाम की दोनों अवस्थायें मुक्ति का कारण बन जाती है ।

अभानावरण के हट जाने पर भ्रान्ति से प्रतीयमान जीव स्वरूप का आरोप भी नहीं रहता अर्थात् जीव भाव की निवृत्ति हो जाती है और जब जीव भाव ही निवृत्त हो गया तो जीव भाव का कार्य सम्पूर्ण संसार एवं कर्ता-भोक्ता आदि से लेकर संम्पूर्ण शोक निवृत्त हो जाता है ।

समस्त संसार के निवृत्त हो जाने पर अपने आत्मा के नित्य मुक्त होने की प्रतीति होने लगती है। अतएव पुनः शोक उत्पन्न नहीं होता और निरंकुश (निर्मर्यादा) तृप्ति प्राप्त हो जाती है। वास्तव में तो अपरोक्ष ज्ञान के समय की भाँति परोक्ष ज्ञान के समय या भ्रान्ति के समय भी ब्रह्म नामक विषय स्वप्रकाश ही रहता है। वह अपरोक्ष ज्ञान से किसी विशेष स्वरूप को प्राप्त नहीं होता न वह भ्रान्ति काल में अन्यथा स्वरूप को प्राप्त होता है ।

प्रश्न - ९४ : अवान्तर वाक्य द्वारा परोक्ष ज्ञान तथा महावाक्य द्वारा अपरोक्ष ज्ञान होने में क्या प्रमाण है ?

उत्तर : वरूण नामक ऋषि के पुत्र भृगु ने पहले ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' (तै.उप. ३/१) इस वाक्य से सुने जगत् के जन्म, स्थिति तथा लय के कारणत्व आदि लक्षण से जगत् के कारण ब्रह्म को परोक्ष रूप से जानकर पीछे विचार से अन्नमयादि कोशों के विचार से प्रत्यगात्मा रूपी ब्रह्म का साक्षात्कार किया था ।इस प्रकार विचार सहित वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यह तैतिरीय श्रुति के ऊपरोक्त वाक्य से सिद्ध होता है ।

अतएव ''यह जगत् पहले एक ही अद्वितीय सत् था'' इत्यादि वाक्य से पहले ब्रह्म की सत्ता का परोक्ष ज्ञान से निश्चय करके फिर जीव रूप से

प्रवेश आदि युक्तियों यानि उसके देह के अन्दर स्थित होने की बुद्धि करके पुनः ''तत्त्वमसि'' आदि महावाक्यों से अद्वितीय ब्रह्म रूप आत्मा को ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस रूप से साक्षात् करे ।

प्रश्न-९५ : अन्नमय, प्राणमय, मनोमय आदि कोशों से तो प्रत्यक् (जीव) का ही साक्षात्कार होता है फिर वह ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे मान लिया जाता है ?

उत्तर : अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशों के विचार से सबसे विलक्षण आनन्द रूप आत्मा का साक्षात्कार कर और श्रृति द्वारा ब्रह्म का निरूपण पूर्व जाना हुआ होने के कारण आनन्द से समस्त भूत उत्पन्न होकर आनन्द से ही स्थित होकर तथा प्रलय काल में आनन्द में ही लय को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार के जो ब्रह्म के लक्षण है उनको प्रत्यक् (आत्मा) में भी विवेक द्वारा घटा लिया जाता है । क्योंकि प्रत्यक भी ब्रह्म ही है ।

''**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**'' (तै.उप. २-२) इस प्रकार ब्रह्म का स्वरूप लक्षण बताकर ''**यो वेदनिहितं गुहायां परमे व्योमन्**'' (मुण्डक्.उप. २-१-१०) इस वाक्य में उसी को पाँचों कोशों रूपी गुहा में छिपा बैठा हुआ बतलाया है । इस प्रकार उपनिषदों ने पंचकोश रूप गुहा के मध्य में स्थित उस ब्रह्म को ही प्रत्यक् रूप कहा है । अर्थात् पंचकोशों का साक्षी आत्मा ही ब्रह्म है ।

छान्दोग्य उपनिषद् (८-७-१) में भी देवराज इन्द्र को पहले आत्मा को परोक्ष रूप से कहकर विचार द्वारा तीनों शरीरों का निराकरण कर आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान कराया था ।

ऐतरेय उप. में ''आत्मा वा इदं'' इत्यादि वाक्यों में पहले परोक्ष ब्रह्म का कथन किया फिर अध्यारोप और अपवाद के द्वारा प्रज्ञान अर्थात् प्रत्यगात्मा रूप ब्रह्म को दिखाया । अस्तु प्रत्यागात्मा का विवेक ही ब्रह्म का साक्षात्कार

है क्योंकि वह प्रत्यागात्मा से पृथक् नहीं है । इस प्रकार सभी श्रुतियों में अवान्तर वाक्य से तो ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान होता है और महावाक्यों के विचार द्वारा अपरोक्ष ज्ञान होता है ।

तात्पर्य यह है कि ''अहं ब्रह्मास्मि'' महावाक्य को भागत्याग लक्षणा से अहं शब्द का जो एक देशीय जड़ांश है उसका त्याग करके शेष कूटस्थ (जीव साक्षी) में मुमुक्षु पुरुष ब्रह्मत्व को जान लेता है । अन्तःकरण रूप उपाधि के त्याग होने पर ब्रह्म ही है एवं अन्तःकरण उपाधि सहित वही जीव कहलाता है । अतः अन्तःकरण विशिष्ट चेतन जीव में से एकदेशीय अंश अन्तःकरण रूप उपाधि को छोड़ देने पर शेष रहे चिदात्मा रूप साक्षी में ''अहं ब्रह्मास्मि'' इस महावाक्य से मुमुक्षु को प्रत्यगात्मा में ही ब्रह्मत्व का दर्शन होता है ।

प्रश्न-९६ : अखंण्ड एक रस वाक्य का क्या अर्थ है तथा उसके जानने का क्या परिणाम है ?

उत्तर : स्वगत, सजातीय तथा विजातीय आदि भेदों से रहित तथा देश परिच्छेद, काल परिच्छेद तथा वस्तु परिच्छेद से रहित वस्तु मात्र को ज्ञानी जन अखंड एकरस मानते हैं ।

लोगों को जो प्रत्यक् बोध अर्थात् सबके मध्य में चिदात्मा भासता है और जो बुद्धि आदि अन्तःकरण की वृत्तियों का साक्षी होकर प्रतीत हो रहा है वह अद्वितीय आनन्द रूप परमात्मा है, और जो आनन्द रूप परमात्मा बताया जाता है वह चित एकरस प्रत्यक् आत्मा ही है । जब किसी को इस प्रकार परस्पर तादात्म्य का ज्ञान हो जाता है याने ब्रह्म आत्मा है एवं आत्मा ब्रह्म है तब एक तो 'त्व' के अर्थ में अपने आत्मा के प्रति अब्रह्मता अज्ञान के कारण जो आ गई थी वह दूर हो जाती हैं । याने आत्मा के प्रति अनात्मा देहादि भाव जन्म-मरणादि की भ्रांति निवृत्ति हो जाती है । और दूसरे 'तत' पद के अर्थ में जो परोक्षता की भ्रांति आगई थी कि ब्रह्म कहीं दूर देश में है,

अभी मेरे पास नहीं है या भक्ति ध्यान करके उसे प्राप्त करुँगा। इस प्रकार ब्रह्म के परोक्षता की बुद्धि व उसे प्राप्त करने की बुद्धि एकत्व बोध होने के क्षण ही नष्ट हो जाती है।

और इस एकत्व ज्ञान के परिणाम स्वरूप अपना प्रत्यगात्मा ही तब पूर्णानन्द बन जाता है।

प्रश्न - ९७ : घटादि जड़ पतार्थों तथा आत्मा के जानने में क्या भेद है ?

उत्तर : घटादि जड़ पदार्थों को जानने में तो बुद्धि वृत्ति (वृत्ति व्याप्ति) तथा चिदाभास (फलव्याप्ति) अर्थात् बुद्धि और उसमें पड़ा चैतन्य का आभास (चिदाभास) दोनों मिलकर घटपटादि जड़ दृश्य पदार्थों का बोध कराते हैं। बुद्धि वृत्ति से तो जड़ पदार्थों का आच्छादन करने वाले तुला अविद्या का नाश होता है और चिदाभास से घट की स्फूर्ति होती है। याने घट का ज्ञान होता है कि - ''यह घट है'' क्योंकि जड़ रूप घट का केवल जड़ रूप बुद्धि से स्वतः स्फूरण नहीं हो सकता जड़-जड़ को जानने की सामर्थ्य नहीं रखता। हाँ जड़ जड़ का आवरण केवल हटा सकता है।

प्रत्यक् आत्मा और ब्रह्म की एकता मूला विद्या (अज्ञान) से आवृत्त है। उस अज्ञान की निवृत्ति के लिये महावाक्यों से पैदा हुई ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस रूप की बुद्धि वृत्ति द्वारा ब्रह्म की व्याप्ति अपेक्षित है। अर्थात् ब्रह्म पर आवरण हटाने मात्र की जरूरत है। परन्तु घटादि जड़ पदार्थों को जनवाने के लिये जिस प्रकार चिदाभास की जरूरत रहती है। उस प्रकार आत्मा के स्वयं प्रकाश रूप होने के कारण उसका बोध कराने के लिये चिदाभास की जरूरत नहीं रहती।

अन्धकार में जैसे घट को देखने के लिये दीपक व आँख दोनों की जरूरत है और दीपक को देखने के लिये केवल आँख की ही जरूरत है। उसी प्रकार अज्ञान की निवृत्ति में बुद्धि वृत्ति की आवश्यकता होती है,

परन्तु ब्रह्म को जनवाने के लिये फलव्याप्ति अर्थात् चिदाभास की मदद की जरूरत नहीं रहती क्योंकि ब्रह्म स्वयं स्फूरण रूप है । स्वयं ज्ञान रूप है ।

यदि यह शंका करे कि बुद्धि और उसकी वृत्तियाँ चिदाभास से विशिष्ट स्वभाव वाली है । इसलिये घटादि के समान ब्रह्म में भी स्वतः फल व्याप्ति हो ही जायेगी । तो यह बात सत्य है कि घटाकार वृत्ति की भाँति ब्रह्म को गोचर करनेवाली वृत्तियों में भी चिदाभास विद्यमान है । तथापि वह ब्रह्म से पृथक् प्रतीत नहीं होता, वह ब्रह्म के साथ एक होकर रहता है । किस प्रकार एक होकर रहता है ? जिस प्रकार प्रचण्ड धूप में दीपक का प्रकाश सूर्य से मिल जाता है, उसकी ज्योति सूर्य से पृथक् प्रतीत नहीं होती । इसी प्रकार चिदाभास ब्रह्म साक्षात्कार के समय विद्यमान रहता है । किन्तु वह ब्रह्म में घटादि की भाँति स्फूरण रूप अधिक फल को ब्रह्म में उत्पन्न नहीं करता है ।

अमृतबिन्दु उपनिषद् में ब्रह्म को -

निर्विकल्पमनन्तं च हेतु दृष्टान्त वर्जितं ।
अप्रमेय मनादिं च यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ।।

इस मन्त्र में ब्रह्म को अप्रमेय याने किसी प्रमाण द्वारा जानने योग्य नहीं है इस प्रकार उस में फल व्याप्ति की हीनता सूचित की है । उसमें फलव्याप्ति नहीं है इसलिये अप्रमेय है । गीता श्रुति में भी कहा २ अध्याय के १८ श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं कि हे अर्जुन यह आत्मा -

"अनाशिनोऽअप्रमेयस्य"

अबिनाशी एवं प्रमाण रहित स्वयं जानने वाला है इसे कोई जानने वाला नहीं है । इस प्रकार ब्रह्म में फलव्याप्ति की हीनता सूचित करने के लिये अप्रमेय कहा तथा वृत्तिव्याप्ति के योग्य होने से कठोपनिषद् में कहा -

"मनसैवेद माप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन्"

- २/१/११

गीता श्रृति में भी कहा कि -

''यतद् बुद्धि ग्राह्यमतीन्द्रियम्''

- ६/२०

आत्मा को बुद्धिवृत्ति के योग्य बतलाया है तथा प्रमाण से रहित होने से उसे इन्द्रियों से अतीत कहा है । अतः आत्मा के जानने में वृत्ति व्याप्ति अज्ञान निवृत्ति हेतु ही अपेक्षित है । किन्तु ब्रह्म को प्रकाशित करने के लिये फलव्याप्ति की जरूरत नहीं है ।

प्रश्न-९८ : यदि महावाक्यों के विचार से एक ही बार में अपरोक्ष ज्ञान हो जाये तो फिर श्रवण, मननादि की पुनः पुनः आवृति की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर : महावाक्यों से एकबार सुनकर ही अपरोक्ष ज्ञान हो जाना किसी योगभ्रष्ट संस्कारी जीव के लिये तो संभव हो सकता है, किन्तु सर्वसाधारण के लिये एक बार में ब्रह्मात्मा के एकत्व के विषय में जो ज्ञान अपरोक्ष होता है वह दृढ़ नहीं होता । इसलिये बुद्धि के संशय विपर्यय की निवृत्ति हेतु बारम्बार अभ्यास की जरूरत रहती है । इसीलिये श्री शंकराचार्य ने महावाक्य से उत्पन्न ज्ञान के पश्चात भी ज्ञान की दृढ़ता के लिये श्रवणादि की आवृत्ति का विधान किया है कि जब तक ''मैं ब्रह्म हूँ'' यह वाक्यार्थ का ज्ञान दृढ़ न हो तब तक शमादि से युक्त रहकर श्रवण मननादि का अभ्यास करे । तथा अज्ञानी को देह में मैं पने की तरह संशय रहित हो अपने आत्मा में मैं पना निश्चय हो जावे फिर उस ज्ञानी को अभ्यास की अपेक्षा नहीं है ।

प्रत्यगात्मा के स्वरूप को सच्चिदानन्द लक्षण वाले ब्रह्म से अभिन्न (एकत्व) जानकर ''मैं ब्रह्म हूँ'' (सोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि) इस रूप में जो बोध होता है उसी को अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं ।

प्रश्न- ९९ : अपरोक्ष ज्ञान महावाक्यों के श्रवण करने पर भी किसी किसी को दृढ़ क्यों नहीं हो पाता ?

उत्तर : दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान न होने में तीन प्रकार के प्रतिबन्धक है ।

१. बहुत शास्त्र श्रवण करने से प्रमाणगत संशय उत्पन्न हो जाता है । अर्थात् शाखा भेद तथा इच्छा भेद से भिन्न-भिन्न कर्मों का विधान श्रुति में किया गया है । जैसे ब्रह्म हत्या के पापों से मुक्त होने के लिये अश्वमेध यज्ञ, स्वर्ग चाहने वालों के लिये अग्निहोत्र, सोमयाग, पुत्र चाहने वालों के लिये पुत्रेष्टि याग, वर्षा चाहने वालों के लिये कारीरी याग और आयु की इच्छा से शतकृष्णल याग (सोने के १०० पासों का दान) किया जाता है । ऐसा ही कोई भेद यहाँ उपनिषदों में भी प्रतिपाद्य ब्रह्म के विषय में है । इस प्रकार की शंका प्रमाणगत संशय कहलाता है । इसी प्रकार का संशय अर्जुन को भी हो गया था तब उसे योगेश्वर कृष्ण ने कहा -

श्रुति विप्रति पन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।।

- गीता १/५३

अर्थात् हे अर्जुन ! जब तेरी अनेक प्रकार के सिद्धान्तों को सुनकर विचलित हुई बुद्धि सुने हुए विषय से वैराग्य धारण कर निज आत्म स्वरूप में अचल और शान्त हो जावेगी तब तू समत्व रूप योग को प्राप्त होगा और इसके लिये सद्गुरु से बारम्बार श्रवण करना ही मात्र साधन है ।

२. अखंडैकरस अद्वितीय ब्रह्म का आलौकिक होने से इन्द्रियों का विषय न होने से ब्रह्म नहीं है इस प्रकार की असंभावना यह प्रमेयगत संशय ज्ञान की अदृढ़ता का हेतु है । इसके लिये मनन ही एकमात्र साधन है ।

३. अकर्ता-अभोक्ता आत्म स्वरूप में कर्तृत्व भोगतृत्व आदि का अभिमान ही विपरीत भावना है जो अदृढ़ता का तीसरा कारण है और इस विपरीत भावना निवृत्ति हेतु निदिध्यासन ही कर्त्तव्य है, क्योंकि बहुत जन्मों के दृढ़ अभ्यास के कारण क्षण-क्षण में बारम्बार देहादियों में आत्म बुद्धि उदित हो जाती है और इसी प्रकार जगत् को सत्य समझने का विचार भी पुनः

पुनः उठता रहता है । यह विपरीत भावना चित्त की एकाग्रता से निवृत्त हो जाती है । और एकाग्रता ब्रह्म तत्त्व के उपदेश से पूर्व सगुण ब्रह्म की उपासना या ध्यानादि से प्राप्त हो जाती है । तत् पश्चात् आत्माकार वृत्ति का प्रवाह तथा अनात्माकार वृत्ति का तिरस्कार करते रहना ही निदिध्यासन है ।

प्रश्न-१०० : श्रवण किसे कहते हैं ?

उत्तर : संपूर्ण उपनिषदों का आदि, मध्य और अन्त कहीं से भी विचार करने पर सब वेदान्त का तात्पर्य ब्रह्म को प्रत्यगात्मा बताना ही है । अर्थात् अपना आत्मा ही ब्रह्म है ऐसा निश्चय होना ही श्रवण कहलाता है ।

प्रश्न - १०१ : मनन किसे कहते हैं ?

उत्तर : अभेद की साधक और भेद की बाधक युक्तियों द्वारा ब्रह्मात्मा की एकता रूप अर्थ की संभावना का अनुसंधान अर्थात् मनन किया जाता है ।

प्रश्न - १०२ : ब्रह्माभ्यास किसे कहते हैं ?

उत्तर : ब्रह्म का ही चिन्तन, उसका ही कथन और परस्पर उसको ही समझना, इस प्रकार एक मात्र उसमें ही तत्पर रहना बुद्धिमानों ने ब्रह्माभ्यास बतलाया है । ऊपरोक्त भाव को गीता श्रृति भी निम्न श्लोक से ब्रह्माभ्यास का निरूपण करती है ।

मच्चिता मद्गत प्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।

- गीता : १०/६

ब्रह्मचर्यादि साधन सम्पन्न धीर मुमुक्षु साधक को चाहिये कि वह उस प्रत्यगात्मा रूप परमात्मा को ही संशयादि रहित होकर जाने और ब्रह्मात्मा की एकता के ज्ञान की एक धारा रूप एकाग्रता को संपादित करे । अनात्मा को विषय करने वाले बहुत से शब्दों एवं लम्बी-लम्बी युक्तियों का

स्मरण और कीर्तन न करे । क्योंकि अनात्म गोचर शब्दों के स्मरण और कथन से तो मन और वाणी को व्यर्थ ही श्रम होता है ।

गीता श्रुति में भी मन की एकाग्रता का विधान है -

अनन्य चेताः सततं यो माम् स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगीनः ॥

- गीता : ८/१४

अर्थात् जो जन ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस प्रकार से मुझसे अनन्य होकर सदा चिन्तन करते हैं, जिनके चित्त में अन्य कोई नहीं है, केवल अपने आत्म स्वरूप में विचार्यवान है । उन्हीं लोगों को मेरी प्राप्ति सुलभ होती है । अन्य रूप से उपासना करने वालों को मैं सुलभ नहीं होता । कठोपनिषद भी इसी एकाग्रता का विधान करता है ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको ।
बहूनां यो विदध्याति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यति धीराः
तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥

- २/२/१३

अर्थात् जो समस्त नित्य तथा चेतन आत्माओं के भी नित्य चेतन आत्मा है, और स्वयं एक होते हुए भी अनन्त जीवों के भोगों को उनके कर्मानुसार प्रस्तुत करते हैं । उन सर्वशक्तिमान् परब्रह्म पुरुषोत्तम को जो ज्ञानी महापुरुष अपने आत्मा रूप से निरन्तर स्थित देखते हैं उन्हीं को सनातन शान्ति प्राप्त होती है । दूसरों को नहीं जो उसे बाहर देखते हैं ।

तात्पर्य यह है कि आत्मा वस्तुतः देहादि से भिन्न है और यह संसार मिथ्या है । ऐसा होने पर भी उन दोनों को क्रमशः देहादि समझना और सत्य समझना विपरीत भावना है । और यह भ्रान्ति तत्त्व भावना से नष्ट हो जाती है । इसलिये साधक को चाहिये कि वह आत्मा की देहादि से भिन्नता और

जगत् के मिथ्यात्व की दिन रात भावना किया करे इसे ही ज्ञानी जन ब्रह्माभ्यास कहते हैं । जिसके दृढ़ हो जाने पर पुनः मोह को याने देह भाव को प्रोप्त नहीं होता ।

प्रश्न -१०३ : क्या ब्रह्माकार वृत्ति को जपादि की भाँति नियम पूर्वक चलाना चाहिये ?

उत्तर : आत्मा के देहादि से भिन्न होने के ज्ञान को और जगत् के मिथ्यात्व के अनुसंधान को मत्र जप अथवा ध्यान की भाँति करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह ब्रह्माकार वृत्ति तो प्रत्यक्ष फल को उत्पन्न करने वाली है, इसका फल परोक्ष नहीं होता । जैसे भोजन का इच्छुक भूख निवृत्ति हेतु निरन्तर जपादि की तरह नहीं खाता बल्कि जब-जब उसे जहाँ भूख लगति है तब-तब वह समयानुकूल भूख निवृत्ति का उपाय सोचकर कर लेता है । याने भूखा मनुष्य अन्न मिलने पर अन्न द्वारा भूख निवृत्त की लेता है । यदि अन्नादि न मिले तो भूख को भूलादेने वाले कामों में समय काट देता है, या चलता है, सो जाता है । तात्पर्य यह है कि वह जिस किसी प्रकार भूख को मिटा देना चाहता है । बात यह है कि भोजन भूख नी निवृत्ति रूप दृष्ट फल के लिये ही है और नियम तो परलोक के लिये होते हैं जिसमें भूमि, भोजन, समय का विचार कर खाया जाता है ।

परन्तु जप को तो नियम से ही करना पड़ता है । न करने से पाप लगता है और उलट-पुलट करने से तो स्वर और वर्ण के उलट-पुलट जाने से अनर्थ हो जाता है । क्षूधा की भाँति देहाध्यास या विपरीत भावना भी प्रत्यक्ष दुः देने वाली है । उसको किसी प्रकार जीतना है । अतएव उसके जीतने के लिये अनुष्ठान का कोई निश्चित नियम नहीं हो सकता । न कोई कठिन नियम, ध्यान, जपादि की तरह ही है । जब-जब विपरीत भावना हो केवल ब्रह्मात्म भाव की अपेक्षा है ।

इस ब्रह्माभ्यास में कथन और चिन्तन आदि का ऐसा बन्धन नहीं है

जैसे सांकल से बंन्धे देह का होता है । बल्कि इसके विपरीत इसमें इतिहास, युक्ति, दृष्टान्त आदि के द्वारा बुद्धि का ऐसा ही बिनोद होता है । जैसा कि किसी नाटक को देखने से होता है याने किसी प्रकार नीरसता थकावट नहीं होती ।

आत्मा चेतन मात्र है देहादिक रूप नहीं है, जगत् मिथ्या है । इतिहास युक्ति, दृष्टान्त आदि का केवल मात्र यही निश्चय करानो में तात्पर्य है । इस कारण इतिहास आदि के कारण भी एकाग्रता भंग नहीं होती । देह भाव से हटकर आत्म चिन्तन परायण होना ही मन की एकाग्रता है । पत्थर की तरह चुपचाप जड़ होकर पड़े रहना एकाग्रता नहीं है । वह तो जड़ पत्थर, लकड़ी की सहज प्राप्त है । किन्तु इससे उनका कल्याण तो नहीं हो पाया ।

प्रश्न - १०४ : ज्ञानी यदि निरंन्तर ब्रह्माभ्यास नहीं करेगा तो उसके मोक्ष की हानी होगी या नहीं ?

उत्तर : दृढ़ आत्म ज्ञानी यदि प्रारब्धानुसार खेती, व्यापार, नौकरी, काव्यरचना तथा तर्कादि में प्रवृत्त हो तो भी उसके मोक्ष की हानी नहीं होती है । हाँ अदृढ़ ज्ञानी यदि खेती, व्यापार, नौकरी, काव्य तथा तर्कादि में प्रवृत्ति करेगा तो बुद्धि विक्षिप्त होने के कारण उसे तत्त्व की स्मृति नहीं हो सकेगी । किन्तु ब्रह्म विचार का अनुसन्धान करता हुआ साधक भोजनादि देह के आवश्यक कार्यों में प्रवृत्त हो ही सकता है । क्योंकि भोजनादि में प्रवृत्ति से अत्यन्त विक्षेप नहीं होता । तुरन्त बाद ही तत्त्व का स्मरण हो जाता है ।

फिर केवल तत्त्व का विस्मरण हो जाने मात्र से अनर्थ की प्राप्ति नहीं होती है । याने चिदात्मा रूप तत्त्व की देहादिक से भिन्नता का विचार और जगत् के मिथ्यापने का निश्चय के विस्मृति मात्र से मोक्ष की हानि नहीं होती किन्तु देह में आत्मपने की भावना या जगत् में सत्यत्व की बुद्धि रूप विपरीत भावना से अनर्थ होता है । भोजनादि कार्य में प्रवृत्त होने वाले साधक को तो

विपरीत भावना के उदय होने का अवसर नहीं मिलता और न्याय शास्त्र आदि तर्क शास्त्र का अभ्यास करने वाले पुरुष को तत्त्व स्मृति का ही अवसर नहीं मिलता । । अतः ऐसे अभ्यास तत्त्वबोध के विरोधी होती है । इस कारण तत्त्व स्मरण हो जाने पर भी वह बलात् विस्मृत हो जाता है । इसलिये श्रुति कहती है -

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्यावाचो
विमुञ्चथा मृतस्यैष सेतुः ॥

- मुण्डक्. उप. २/२/५

अकेले उस आत्मा स्थित परमात्मा को ही जानो, अन्य सभी बातों को सर्वथा छोड़ दो तथा यह श्रुति में भी कहा है -

नानुध्यायाद् बहुञ्शब्दान् वाचो विग्लापनं हितत् ।

- बृह.उप. ४/४/२१

अर्थात् बहुत शब्दों का ध्यान न करे वह तो वाणी का व्यर्थ परिश्रम ही है ।

यदि कहो कि ज्ञान हो जाने पर भोजनादि जब नहीं छूटते हैं तो अन्य पूजा, पाठ, शास्त्र तर्क क्यों छोड़ें ? तो यह कहना विवेक पूर्ण नहीं है । आहारादि को छोड़ देने से तो मनुष्य जीवित नहीं रहता, तो क्या अन्य पूजा पाठ शास्त्र एवं तर्कों को छोड़ देने से भी मर जाओगे जो ऐसा उनमें हठ करते हो ? यदि कहो की राजा जनकादि तत्त्ववेत्ताओं की राज्य पालनादि में प्रवृत्ति क्यों हुई ? तो इसका समाधान यह है कि उनकी प्रवृत्ति उनके दृढ़ बोध के कारण बाधक नहीं है । यदि तुम्हें भी ऐसा दृढ़ बोध हो गया हो तो फिर चाहे तुम यथेष्टाचरण करे या तर्क शास्त्र पढ़ो या खेती व्यवसाय में रत रहो, तत्त्वज्ञान में बाधा नहीं होगी ।

प्रश्न-१०५ : संसार को असार जानकर भी जनकादि संसार में प्रवृत्त क्यों हुए ?

उत्तर : संसार के मिथ्यापन की वासना दृढ़ हो जाने पर तत्त्वज्ञानी प्रारब्ध के क्षय की इच्छा से बिना किसी भय के अपने-अपने कर्मों के अनुसार संसार में प्रवृत्त रहते हैं ।

यदि शंका करें कि यों तो अपने-अपने कर्म के वशवर्ती होकर ज्ञानी लोग अतिप्रसंग याने अनाचार भी करेंगे ? तो इसका उत्तर यह है कि यदि ऐसा वे करें तो भले करें तीव्र प्रारब्ध को कौन रोक सकता है ? इस बात में स्मृति प्रमाण रूप है ।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।।

- गीता : १८/५९

इसके विपरीत - जो तू अहंकार के वश यह दुराग्रह करे कि ''मैं युद्ध नहीं करूंगा'' यदि ऐसा मानता है तो यह तेरा मिथ्या निश्चय है । क्योंकि तेरी क्षत्रिय जाति वाली प्रकृति तुझको बलात्कार से युद्ध में जोड़ देगी ।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।।

- १८/६०

हे आत्मन् ! स्वाभाविक अपने जिन कर्मों से बन्धा हुआ जो तू मोह से करना नहीं चाहता है वह कर्म विवश होकर भी प्रकृति वशात् तुझे करने को मजबुर होना पड़ेगा ।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृते र्ज्ञानिवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।

- गीता ३/३३

अर्थात् सभी प्राणी के पूर्व जन्म के संचित धर्म अधर्म के संस्कार से इस जन्म में जो पुण्य-पाप रूप फल में प्रवृत्ति होती है, इसी वृत्ति को प्रकृति

कहते हैं । और सभी प्राणी अपनी अपनी प्रकृति को प्राप्त होते हैं । अर्थात् अपने स्वभाव से परवश हुए कर्म करते हैं । ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है । फिर इसमें ज्ञानी व अज्ञानी किसी का भी हठ क्या करेगा जो अपनी प्रकृति के विरुद्ध कुछ कर सके ।

यदि प्रारब्ध कर्म की प्रबलता से ज्ञानी को भोगों की इच्छा हो भी जाये तो वह बेगार में पकड़े हुए पुरुष की भाँति क्लेश मानता हुआ ही वह उन विषयों को भोगा करता है । अथवा सफर करते हुए यात्री तेल या डालड़ा घी का सेवन घर में न करने पर भी बिना इच्छा के मजबूर होकर रास्ते का भोजन ग्रहण कर ही लेता है । उसी प्रकार ज्ञानी भी बिना विषयों में रस बुद्धि रखे प्रारब्ध से प्रेरित होकर विषय ग्रहण कर लेते हैं । फिर ज्ञानवान का मन अल्प भोगों से ही सन्तुष्ट हो जाता है । जैसे रात्रि में मनुष्यों का आना जाता घट जाना है वैसे ही निदिध्यासन से परिपक्व हुए अन्तःकरण के धर्म रूप से उत्पन्न कामादियों का विक्षेप अल्प हो जाता है । क्योंकि कामादि का उपादान मन शिथिल पड़ जाता है । इसलिये ज्ञानवान का मन अल्प भोग से ही सन्तुष्ट हो जाता है ।

अवश्य होने वाले दुःखों की निवृत्ति का यदि कोई उपाय होता तो नल, राम, युधिष्ठिर आदि दुःखग्रस्त क्यों होते ? अर्थात् सबको प्रारब्ध भोगना ही पड़ता है, उसे रोकने में ईश्वर भी समर्थ नहीं है । फिर यदि मैं या अन्य कोई प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के निरोध का प्रयत्न करें तो उससे लाभ ही क्या अर्थात् कुछ भी नहीं है ।

प्रश्न- १०६ : प्रारब्ध कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : प्रारब्ध तीन प्रकार का होता है । (१) स्वेच्छा प्रारब्ध, (२) अनिच्छा प्रारब्ध एवं (३) परेच्छा प्रारब्ध ।

(१) अपथ्य सेवी, चोर और राजा की स्त्रियों में अनुरक्ति करने वाले लोग अपने-अपने अनर्थों को जानते हुए भी प्रारब्ध कर्म के प्रभाव में आकर

उन उन अनर्थों को चाहते हैं यह इच्छाजनक प्रारब्ध है ।

(२) अनिच्छा पूर्वक प्रारब्ध के बारे में अर्जुन श्रीकृष्ण से पूछता है । हे कृष्ण ! यह पुरुष किसकी प्रेरणा से न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुए की भाँति पाप कर्म कर बैठता है । श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं - पुरुष का यह प्रवर्तक रजोगुण से उत्पन्न काम है । यही काम क्रोध में बदल जाता है । इसकी विषयों की भूख बहुत बड़ी है, यह बड़े पापों का कारण होने से बड़ा पापी है । अतः इस काम को महान शत्रु समझो । यह काम क्रोध में बदलकर मनुष्य को बिना इच्छा के भी पाप में ढकेल देता है । इसलिये इसे अनिच्छा प्रारब्ध कहते हैं । - गीता ३/३७

हे अर्जुन ! अपने आप किये हुए अपने प्रारब्ध से बँधा हुआ तू जो नहीं भी करना चाहता उसे भी अविवेक से परवश होकर करेगा ।

(३) न तो इच्छा से न अनिच्छा से ही अपितु दूसरों की प्रसन्नता के विचार में फँसकर ही कुछ लोग सुख-दुःख भोगते हैं । यह सुखादि भोग देने वाला परेच्छा पूर्वक प्रारब्ध प्रसिद्ध है । रामजी ने इसी प्रारब्ध से प्रवृत्त होकर सीता का परित्याग धोबी के कहने मात्र से कर दिया एवं दशरथ ने कैकेयी के कहने से राम को बनवास भेज महान कष्ट उठाया । अतः विषय रूप संसार में दोष देख लेने पर ज्ञानी जन विषयों में प्रारब्ध के वशवर्ती होकर प्रवृत्त हो जाते हैं ।

प्रश्न - १०७ : यदि तत्त्वज्ञानी की इच्छा बनी रहे प्रारब्ध वश तो उसे आवागमन से छुटकारा कैसे हो सकेगा ?

उत्तर : श्रुति में भी कहा है कि जिस पुरुष ने आत्मा को मैं रूप जान लिया है, वह अब किस इच्छा को लेकर शरीर के पीछे कष्ट उठायेगा ? किन्तु वहाँ इच्छा का निषेध नहीं कहा, इच्छा का बाध कहा है । अर्थात् होते हुए भी अपने आत्मा में स्वीकार नहीं करने का नाम बाध है । इच्छा के होते हुए भी ज्ञानी की प्रवृत्ति धर्म अधर्म को उत्पन्न कराकर पुनर्जन्म को नहीं

दे सकती है । जैसे स्वरूप से विद्यमान होने पर भी भूना बीज पुनः उत्पन्न करने की शक्ति से रहित हो जाता है । ऐसे ही ज्ञानी की इच्छा स्वयं विद्यमान रहती हुई भी इच्छा के विषय भूत पदार्थों को मिथ्या समझ लेने से उनके मिथ्या ज्ञान से बाधित होकर दुःखादि कार्य करने में असमर्थ ही रहती है । जैसे भूना हुआ बीज अंकुरित तो नहीं होता पर खाने के काम में आ जाता है । ऐसे ही विवेकी की इच्छा भी थोड़ा सा भोग तो देती ही है पर वह बहुत व्यसन उत्पन्न नहीं करती ।

प्रारब्ध कर्म तो भोग मात्र को पैदा करके नष्ट हो जाता है । वह व्यसन को उत्पन्न नहीं करता । व्यसन को उत्पन्न करने वाली तो भोग पदार्थों में सत्यत्व होने की भ्रान्ति है । भोग पदार्थ प्रारब्ध से पाकर मनुष्य का लोभ बढ़ता है और कहता है, यह भोग कभी नष्ट न हो अपितु आगे-आगे बढ़ता जाये, विघ्न हमारे इस भोग में रूकावट न डाले, मैं इस भोग को पाकर धन्य हो गया हूँ इस प्रकार का अज्ञानी को भ्रम होता है । और यह भ्रान्ति ही उसकी भोग के प्रति व्यसन एवं व्यसन से दुःखादि पुनर्जन्म को प्रदान कर देती है ।

इस भ्रान्ति के निवारण का एक ही उपाय है कि जो होने वाला है अवश्य ही वैसा ही होगा और जो नहीं होने वाला है वह कभी भी नहीं होगा । इस प्रकार का बोध ही चिन्ता रूप व्यसन को नाश करने में एक मात्र साधन है ।

प्रश्न - १०८ : ज्ञानी और अज्ञानी समान रूप से भोगी होते हुए भी भ्रान्त व्यसन में फँसता है ज्ञानी क्यों नहीं ?

उत्तर : भोग के समान होने पर भी भ्रान्त व्यसन में भोगों की आसक्ति में फँसता है, किन्तु ज्ञानी नहीं फँसता । क्योंकि भ्रान्त पुरुष असम्भव बातों का संकल्प करता रहता है जो कभी न तो पूर्ण होता है न समाप्त होता है । इस प्रकार वे आशा तृष्णाओं में बँधकर जन्म रूप कर्मफल को देने वाली और

भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये बहुत सी क्रियाओं का विस्तार किया करते हैं । किन्तु विवेकी पुरुष भोगों को मायामय (मिथ्या) जानकर उनके प्रति अपनी आस्था (आसक्ति) को हटा लेता है । तथा विषय के निमित्त से मिलने वाले आनन्द को अपने आत्म स्वरूप का ही आनन्द मानता है । इसलिये वह विषयों की प्राप्ति में अज्ञानी की तरह दुःखी होकर रोता भी नहीं है । इसलिये भोगों को भोगता हुआ भी वह उनमें आसक्त नहीं होता तो फिर उसे व्यसन क्यों होगा ? अज्ञानी तो प्रिय भोग की प्राप्ति पर हर्षित होता है वह भोग के अभाव में अपने को भाग्यहीन दुःखी मानता है एवं पश्चाताप करता है कि अब पहले की तरह आनन्द मुझे कौन देगा इत्यादि । किन्तु ज्ञानी पुरुष इस जगत् को स्वप्न और इन्द्रजाल के समान मिथ्या जानकर इसमें नहीं फँसता है ।

प्रश्न - १०९ : जगत् को मिथ्या जानने का क्या उपाय है ?

उत्तर : अपने स्वप्न को अपरोक्ष देख कर जागने पर स्वप्न प्रपंच कुछ भी नहीं रहता है । वहाँ का लाभ, हानि, मान, अपमान, सुख-दुःखादि कोई धर्म जाग्रत में नहीं पाये जाते यह अनुभव करे । फिर सावधान होकर अपने जागरण को भी विचार से निश्चय करे कि जाग्रत के समस्त वैभव स्वप्न में किसी भी प्रकार उपयोगी नहीं रहते, इसलिये जाग्रत भी स्वप्न की तरह मिथ्या है । स्वप्न अवस्था जाग्रत काल में और जाग्रत अवस्था स्वप्न काल में मिथ्या हो जाती है अतः दोनों ही मिथ्या है । दोनों केवल तत्कालिक भोग ही देते हैं और परिणाम में नीरस एवं बिनाशी है । इस प्रकार चिरकाल तक दृढ़ अभ्यास करे तो विचारहीन काल में जैसा जाग्रत के पदार्थों में ममता एवं सत्यता की बुद्धि रहती थी, विचार काल में जाग्रत वस्तुओं में वैसी अनुरक्ति नहीं होगी ।

प्रश्न - ११० : मिथ्या ज्ञान हो जाने पर भी भोग ज्ञानी को रहे यह कैसे सम्भव हो सकता है ?

उत्तर : तत्त्वज्ञान का तो इतना ही आग्रह है कि यह स्मरण रहे कि संसार इन्द्रजाल की भाँति मिथ्या है । भोग की प्राप्ति अथवा उसका नाश दोनों में से कोई भी तत्त्वज्ञान का फल नहीं है । ज्ञान न किसी को उत्पन्न करता है न किसी को नष्ट करता है, वह तो वस्तु के स्वरूप को ज्यों का त्यों बतला देता है । अतः समस्त भोग्य पदार्थ (यह द्वैत) अनिर्वचनीय होने के कारण इन्द्र जाल तुल्य मिथ्या है । इस बात को कभी न भूलने वाले ज्ञानी पुरुष को उसके प्रारब्ध से प्राप्त भोग को भोगने पर भी उसके तत्त्व ज्ञान को क्या हानी पहुँचेगी ? अर्थात् उसकी जगत् को मिथ्या समझने की विचार धारा का नाश नहीं होता, क्योंकि भोग व मिथ्यात्व अनुसन्धान दोनों के लक्ष्य भिन्न-भिन्न है ।

प्रारब्ध कर्म का लक्ष्य है केवल जीवों को सुख-दुःख का भोग देना, भोग्य पदार्थों में सत्यता की बुद्धि उत्पन्न करना प्रारब्ध कर्म का लक्ष्य नहीं है । ज्ञान (विद्या) और प्रारब्ध कर्म का परस्पर विरोधी नहीं है । क्योंकि दोनों विषय पृथक्-पृथक् है । जैसे नेत्र व कर्ण का परस्पर विरोध नहीं है क्योंकि दोनों के विषय पृथक् है ।

संसार में भी जो लोग समझते हैं कि जादूगर के खेल मिथ्या होते हैं, फिर भी वे देखने के लिये खड़े हो जाते हैं । व आनन्द मनाते हैं, हँसते, ताली बजाते हुए देखते रहते हैं । पर इस प्रकार देखने से भी उनके मन में यह विपरीत भावना कभी भी नहीं आती कि यह खेल सत्य है । अतएव यह स्पष्ट ही है कि मिथ्या ज्ञान जगत् के प्रति हो जाने पर भी प्रारब्ध से उसे भोगने की इच्छा चेष्टा हो सकती है । तथा भोग्य पदार्थों के प्रति मिथ्या ज्ञान भोग का बाधक नहीं होता । क्योंकि भोग मात्र से विषय सत्य हो जाता है ऐसा तो कोई प्रमाण नहीं है । ज्ञानी भूख-प्यास की निवृत्ति हेतु अन्न जल ग्रहण करते हैं । यदि यह उनके प्रारब्ध से होता है तो जिस ज्ञानी का प्रारब्ध अधिक भोग को देने वाला होगा तो उसमें किसी का क्या वश चलेगा व प्रारब्ध ज्ञान का तो विरोधी होता ही नहीं है कि वह जगत् को सिद्ध कर सकें । केवल भोगने

मात्र से ज्ञान की हानि में कोई दृष्टान्त नहीं है । अतः विद्या व प्रारब्ध का विरोध नहीं है ।

ज्ञान यदि भोग्य पदार्थों को छिपाले जैसे ''यह पानी नहीं है'' तब तो माना जाये कि ज्ञान प्रारब्ध को नष्ट कर सकता है । किन्तु ऐसा तो चमत्कार ज्ञान से कभी नहीं देखा कि प्रतीयमान (देखने योग्य) पदार्थों को वह अदृश्य कर दे । ज्ञान कभी भी प्रारब्ध कर्म के भोग सुख-दुःख अनुभव के साधनभूत जगत् के स्वरूप को नष्ट नहीं करता है, बाध अवश्य करता है । याने दीखते हुए भी उसको मिथ्या सिद्ध कर सकता है किन्तु पूर्ण नष्ट (स्वरूप से नाश) नहीं कर सकता । और ज्ञानी को जगत् का स्वरूप से नाश करना भी कर्तव्य नहीं है । क्योंकि इन्द्रजाल के तमासे को स्वरूप से बिना नाश किये हुए भी मिथ्या जान लेते हैं कि यह जादूगरी मात्र है । ऐसे ही भोग्य पदार्थों को नष्ट किये बिना भी जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है ।

प्रश्न - १११ : श्रुतियों में तो कहा है कि जिसके लिये सब आत्म स्वरूप हो गया वह किससे किसको देखे, किससे किसको सुने, किससे किसको भोगे ? तब आत्म ज्ञान भेद होते हुए कैसे सिद्ध होगा ? या विद्वानों को भोग कैसे सम्भव होगा ?

उत्तर : उपरोक्त अभिप्राय की जितनी भी श्रुति है वह सब सुषुप्ति अवस्था अथवा मुक्ति के विषय मे हैं । इन दोनों अवस्थाओं में विशेष ज्ञान का अभाव रहता है । ये श्रुतियाँ विद्या से जगत् के अभाव हो जाने की बात नहीं कहती, क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद में तो स्पष्ट वर्णन आता है कि आत्मज्ञानी उत्तम पुरुष है । उस अवस्था में वह हँसता, क्रीड़ा करता और स्त्री के साथ रमण करता, हाथी, रथ, घोड़ा, उँट पर सवारी करता, सब ओर विचरता हुआ भी कभी शरीर भाव को प्राप्त नहीं होता (छान्दोग्य. उप. ८/१२/२) इस प्रकार तो श्रुति विरोध हो जावेगा । गीता स्मृति में भी अध्याय ५ के ८/ ९ श्लोक में यही भाव का प्रतिपादन किया है कि तत्त्व को जानने वाला सब

इन्द्रियों के द्वारा किया हुआ जान कर मैं (स्वरूप आत्मा) कुछ नहीं करता ऐसा निश्चय में माने रहता है । यदि निम्न श्रुति को -

यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन जिघ्रेत ।
तत्केन क पश्येत् तत्केन कं श्रृणुयात् ।।

- वृह.उप. २/४/१४

याने जिसके लिये सब आत्मा हो गया है वह किससे किसको सूंघे ? किससे किसको देखे ? किससे किसको सुने ? इत्यादि कथन को सुषुप्ति या मुक्ति विषयक नहीं मानेंगे तो याज्ञवल्क्य, जनक, शुकदेव, राम, कृष्ण आदि ब्रह्म विद्या के आचार्य नहीं हो सकेंगे । क्योंकि वे सब द्वैत को देख रहे थे । तभी तो उपदेश राज्यादि का कार्य कर सके थे । और वे द्वैत को देख रहे थे इतने मात्र से ज्ञानी नहीं माने जाये तो फिर उनका शिष्यों को उपदेश देना संभव नहीं होगा । तो इसके परिणाम स्वरूप ज्ञान परम्परा ही नष्ट हो जायेगी ।

यदि निर्विकल्प समाधि में द्वैत अदशर्न से ही ज्ञान को अपरोक्ष मान लिया जाय तो फिर सुषुप्ति में भी द्वैत की अप्रतीति है तो सुषुप्ति में भी अपरोक्ष ज्ञान क्यों नहीं होना चाहिये । अर्थात् सुषुप्ति में भी समाधि की तरह द्वैत का अभाव हो जाता है । किन्तु द्वैत का अदर्शन ही अपरोक्ष ज्ञान का हेतु नहीं बल्कि आत्मविद्या (आत्मज्ञान) ही अपरोक्ष का हेतु है ।

यदि द्वैत अदर्शन और आत्म ज्ञान दोनों को मिलकर ही विद्या कहो तो भी भूल है, क्योंकि द्वैत अदर्शन को भी विद्या का एक भाग मानोगे तो घटादि जड़ भी अर्धज्ञान वाले सिद्ध हो जावेगें । क्योंकि उनको द्वैत की दृढ़ विस्मृति है । उतनी दृढ़ विस्मृति द्वैत की तो समाधिस्थ पुरुषों को भी नहीं होती, क्योंकि उसे भी मच्छर ध्वनि आदि विविध विक्षेप की बहुलता होती ही है, फिर भी वह दुःखी नहीं होता । अतः आत्मज्ञान को ही विद्या मानना होगा और विद्या से ही अमृत की प्राप्ति होती है । केवल द्वैत प्रपंच के न

दीखने से नहीं होती । श्रुति का तात्पर्य यह है कि आत्म ज्ञानी इच्छा करता हुआ भी यह मूढ़ की भाँति इच्छा नहीं करता । इसलिये ही कहा है कि -

"कि इच्छन कस्यकामाय"

प्रश्न - ११२ : शास्त्रों मे "रागी अबोधस्य लिगम्" कहा है अर्थात् राग होना ही अज्ञान का चिह्न कहा है तब रागवान् ज्ञानी कैसे होगा व उसकी मुक्ति कैसे होगी ?

उत्तर : दृढ़ राग ही अज्ञान का लक्षण है । किन्तु अदृढ़ राग अज्ञान का लक्षण नहीं है । ज्ञानियों में अदृढ़ राग होता है । इसलिये वह मोक्ष में व ज्ञान में बाधा उत्पन्न नहीं करता । शास्त्र के अर्थ जीव ब्रह्म की एकता का निश्चय मात्र से ही ज्ञानी की मुक्ति हो ही जाती है । और मन के धर्म रागादि चाहे जितने उसमें प्रारब्धवश क्यों न रहे पर उनके रहने से तत्त्वज्ञान एवं तत्त्वज्ञानी की कोई हानि नहीं होती ।

प्रश्न - ११३ : आत्मा में मुमुक्षु किस प्रकार प्रीति करे ?

उत्तर : जैसे अज्ञानी सुन्दर वस्त्र, अलंकार, इत्र, स्नो, पाउड़र, लिपूस्टिक्, तेल, बनावटी बाल आदि भोग्य पदार्थों की प्राप्ति तथा रक्षा हेतु निरन्तर प्रयत्नशील सावधान रहता है, ऐसे ही मुमुक्षु अपने आत्मा के चिन्तन के प्रति सावधान रहे कभी प्रमाद न करे, क्योंकि प्रमाद ही मृत्यु शास्त्रों में कहा है । अथवा

जैसे शास्त्रार्थ में प्रतिवादी को जीतना चाहने वाला निरन्तर काव्य,नाटक, ज्योतिष, गणित, न्याय शास्त्र आदि का अभ्यास करता रहता है । या एक पहलवान् दूसरे पहलवान् को हराने हेतु नित्य अभ्यास, व्यायाम करता रहता है, इसी प्रकार मुमुक्षु सदा अपनी आत्मा का विचार करे । अथवा

जैसे स्वर्ग वैकुण्ठादि की कामना वाला जप, यज्ञ, उपासना आदि को

श्रद्धा से नियमित करता है वैसे ही मुक्ति की इच्छा से अपने श्रुति प्रतिपादित (शास्त्र में बताये) आत्मा में विश्वास करे । श्रद्धा विश्वास से ही ज्ञान की उपलब्धि होती है । अथवा

योगी अणिमा, गरिमा आदि सिद्धियों की इच्छा से बड़े परिश्रम से चित्त की एकाग्रता को सिद्ध करता है । वैसे ही मोक्ष की इच्छा से अपने आत्मा को देह इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण आदि से पृथक् करके जानने में तत्परता रखे, क्योंकि जैसे उन शास्त्राभ्यासी, पहलवान, सकामी और योगी पुरुषों की अभ्यास की दृढ़ता से वे अपने-अपने विषयों में कुशलता (शक्ति) बढ़ा लेते हैं और अपने प्रतिवादी से निर्भत्य हो जाते हैं । ऐसे ही मुमुक्षु को निदिध्यासन द्वारा देहादि से आत्मा का भेद ज्ञान रूप विवेक खूब मजबूत हो जाता है । और जड़ पदार्थों से आत्मा को पृथक् निश्चय कर लेने वाले मुमुक्षु को जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में साक्षी (आत्मा) की असंगता का दृढ़ निश्चय हो जाता है । क्योंकि जाग्रत, स्वप्न तथा आनन्द रूप सुषुप्ति अपनी-अपनी अवस्थाओं में ही पायी जाती है । दूसरी अवस्था में वह दिखाई नहीं पड़ती, परन्तु इन तीनों में व्यापक इनका द्रष्टा सबसे पृथक् बना रहता है । वही साक्षी इन तीनों को अनुभव करता है ।

जो सत्य, ज्ञान, अनन्त तथा आनन्द रूप ब्रह्म साक्षी रूप से स्थित हुआ जाग्रतादि रूप जगत् को प्रकाशित करता है ''वह ब्रह्म मैं हूँ'' चिदाभास, प्राण, इन्द्रिय, देहादि रूप में नहीं हूँ ऐसा निश्चय श्रुति और अनुभव से करके प्रमाता (जीव) कर्ता-भोक्ता, जन्म-मृत्यु, पुण्य-पाप, आवागमन आदि समस्त बन्धनों से छूट जाता है । अर्थात् जाग्रत, स्वप्न, सुषप्ति तीनों अवस्थाओं में एक ही आत्मा मानना चाहिये । और वह आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है और ''वह मैं हूँ'' ऐसा विवेक ज्ञान वाले आत्मा की देह के छूटने पर दूसरा जन्म (शरीरान्तर प्राप्ति) नहीं होती है ।

तात्पर्य यह है कि जाग्रत आदि तीन अवस्था में जो स्थूल, सूक्ष्म व

आनन्द रूप भोग्य है और विश्व, तैजस, प्राग नाम के भोक्तापने के अभिमानी इन सबसे विलक्षण जो एक चिन्मात्र कल्याण स्वरूप सत्ता अथवा निरतिशय आनन्द रूप साक्षी परमात्मा मैं हूँ ऐसा सदा चिन्तन करे ।

प्रश्न- ११४ : सुख-दुःखादि का भोक्ता आत्मा है अथवा चिदाभास है या ये दोनों है ?

उत्तर : इस प्रकार की शंकाओं में आत्मा (कूटस्थ) तो असंग होने से भोक्ता नहीं बन सकता । सुख-दुःख का अभिमान ही भोग कहलाता है । इसलिये ''कूटस्थ है साथ ही विकारी है'' । यह कथन परस्पर विरुद्ध होती है । फिर असंग कूटस्थ सुख दुःखादि का अभिमानी विकारी कैसे हो सकता है ? अर्थात् कभी नहीं ।

अब यदि केवल चिदाभास को भोक्ता माने तो भी नहीं बन सकता,क्योंकि चिदाभास भी तो कूटस्थ का ही आभास होने से निर्मल है और बुद्धि के अधीन होने से ही विकारी है । यदि चिदाभास को विकारी मान भी लें तो अधिष्ठान कूटस्थ आत्मा के बिना उसकी सत्ता ही नहीं है क्योंकि अधिष्ठान के बिना कहीं भ्रांति नहीं होती । भ्रान्ति का आधार ही अधिष्ठान होता है । अतएव केवल भ्रान्ति स्वरूप चिदाभास का भी भोक्ता होना सम्भव नहीं है, क्योंकि माया आभास से ही जीव ईश्वर को करती है । यह श्रुति का कथन है और अनुभव भी है कि यह चिदाभास द्रष्टा, दृश्य तीनों के मध्य में है और इस जगत् को मिथ्या कहते हैं । जगत् के मध्य में चिदाभास है इस कारण यह चिदाभास भी मिथ्या है, यह सब विद्वानों का अनुभव है । अतः केवल मिथ्या चिदाभास भी भोक्ता नहीं है ।

अब तीसरा पक्ष अधिष्ठान सहित चिदाभास ही भोक्ता व्यवहार दशा में कहा जा सकता है । परमार्थ दृष्टि से तो आत्मा असंग ही है । क्योंकि समस्त श्रृतियों का अभिप्राय तो बुद्धि उपाधि वाले भोक्ता आत्मा से आरम्भ करके अन्त में बुद्धि आदि की कल्पना के अधिष्ठान भूत चिदात्मा कूटस्थ को

ही शेष रखा है । तथा बुद्धि आदि समस्त अनात्म पदार्थों का निषेध कर दिया है । इस प्रकार केवल मात्र कूटस्थ को ही सत्य रूप माना है । अतएव भोक्ता के दोनों रूप परमार्थिक नहीं है । इस प्रकार आत्मतत्त्व की विवेचना करके जब आत्मा को असंग जान लिया जाता है तब विज्ञानमय कहानेवाला (बुद्धि) और विकारी चिदाभास ही भोक्ता रह जाता है ।

प्रश्न - ११५ : जगत् के समान चिदाभास के मिथ्या होने में क्या प्रमाण है तथा चिदाभास का भोगों के प्रति क्या भाव रहता है ?

उत्तर : श्रुति प्रमाण और अनुभव से चिदाभास का मिथ्या होना सिद्ध है । सुषुप्ति अवस्था तथा मूर्च्छा आदिकों में इस चिदाभास के विलय (नाश) को साक्षी द्वारा जाना जाता है । इसलिये यह चिदाभास मिथ्या है । जब यह मिथ्या ज्ञात हो जाता है तब यह अपने मिथ्यात्व स्वभाव का बारम्बार विवेक करने लगता है ।

विवेचन करते-करते अपने नाश का चिदाभास को निश्चय हो जाने से वह फिर भोगों की इच्छा करना छोड़ देता है । जिस मुमुर्षु (मरने योग्य) पुरुष को खाट से उतार कर नीचे सुला दिया हो वह भला विवाह करने की चाह कैसे करेगा ?

इसी प्रकार पहले की भाँति ''मैं भोक्ता हूँ'' इस व्यवहार में भी उसे लज्जा होती है । ज्ञानोत्पत्ति के पश्चात् प्रारब्ध की समाप्ति तक वह नक्टे पुरुष की भाँति लज्जित हो पश्चाताप किया करता है कि अभी तक मेरा कर्म नष्ट नहीं हुआ । इस प्रकार दुःख मनाते हुए प्रारब्ध कर्म के फल का भोग करता है ।

जब यह ज्ञानी चिदाभास अपने आप को भोक्ता मानने में ही लजाने लगता है तब अपने भोक्तापन को भी साक्षी पर आरोपित तो कर ही कैसे सकेगा ।

कूटस्थ या चिदाभास में से कोई भी परमार्थिक भोक्ता नहीं है । इसी

अभिप्राय से ही तो ''कस्य कामाय'' इस श्रुति से भोक्ता का निशंक भाव से निराकरण किया है ।

प्रश्न- ११६ : ज्वर कितने प्रकार के होते हैं तथा उनकी निवृत्ति कब होती है ?

उत्तर : स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन प्रकार के शरीर हैं और इन तीनों शरीरों में उचित तीन प्रकार का ताप अवश्य हुआ करता है ।

(१) स्थूल शरीर में होने वाला वात, पित्त और कफ से उत्पन्न होने वाले करोड़ों रोग और दुर्गन्ध, कुरूपता, जलन, चोट आदि अनेक ज्वर (उपद्रव) होते हैं ।

(२) काम, क्रोध आदि और शम, दम आदि सूक्ष्म शरीर गत ज्वर है । अज्ञानी पुरुष को काम क्रोधादि ज्वर तंग करते हैं । वैसे ही साधकों को शम, दम आदि भी संतप्त किया करते हैं कि मुझे सज्जन पुरुष की तरह शान्ति की प्राप्ति नहीं हुई । इसलिये दोनों का समान रूप से ज्वर होता है ।

किन्तु ज्ञानी पुरुष को तो गीता में गुणातीत कहा है । इसलिये उसे तीनों गुणों के कार्य संतप्त नहीं करते ।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांङ्क्षति ।।

- गीता : १४/२२

अर्थात् हे आत्मन् ! जो ज्ञानी पुरुष हैं वे सात्विक, राजसिक तथा तामसिक वृत्तियों की अनात्मा को (नश्वरता को) भली भाँति समझते हैं इसलिये वे तीनों गुणों के कार्य प्रकाश प्रवृत्ति और मोह में से किसी के आने पर भी भय नहीं करते न उन्हें निवृत्त करने की चाह करते हैं । न उन्हें बनाये रखने की इच्छा करते हैं । तात्पर्य यह है कि ज्ञानी को देह ज्वर आने पर भी अज्ञानी की तरह नहीं सताते । ज्ञानी को देह ज्वर नहीं आते होंगे ऐसी भूल

धारणा को निवृत्त करने हेतु ही भगवान ने अर्जुन को ऊपरोक्त उपदेश किया है कि ज्ञानी व अज्ञानी सब भोग समान ही प्रारब्ध से आते हैं, भेद केवल उनमें मान्यता का है ।

अतएव ये दो प्रकार के ज्वर क्रमशः प्राप्त होने पर और न होने पर अज्ञानी एवं साधक को दुःखी किया करते हैं ।

(३) कारण शरीर में पहुँचने पर आत्मा अपने और दूसरे को नहीं जानता । वह अज्ञान से विनष्ट हुआ सा हो जाता है । और यह अवस्था ही आगामी देनेवाली होती है । याने जन्म-मृत्यु रूप दुःख को देने वाली होती है । छान्दोग्य उपनिषद में इन्द्र ने प्रजापति से यही कहा था ।

तीनों शरीरों में ये ज्वर स्वभाव से ही रहते हैं क्योंकि ज्वर से इन शरीरों का वियोग होने पर ये शरीर नहीं रहते हैं । क्योंकि शरीरों के साथ ही ये उत्पन्न होते हैं और इन ज्वरों के वियोग से शरीर के नष्ट हो जाने के कारण ये स्वाभाविक ही कहलाते हैं । जैसे तन्तुओं से विलग हो जाने पर वस्त्र तथा स्वर्ण से विलग हो जाने पर अहंकार नहीं रहते उसी प्रकार ज्वर के वियोग हो जाने पर ये तीनों शरीर नहीं रहते । तात्पर्य यह है कि जब तक देह है कष्ट अवश्य ही है । भेद केवल इतना ही है ।

देह धरे का दंड है सब काहू के होय ।
ज्ञानी भुगते ज्ञान ते मूरख भुगते रोय ।।

प्रश्न - ११७ : चिदाभास अथवा चिदात्मा में ज्वर होता है या नहीं ?

उत्तर : चिदाभास में स्वतः तीनों शरीरों के साथ बिना तादात्म्य सम्बन्ध के कोई ज्वर नहीं होता । क्योंकि चित्त को तो एकमात्र प्रकाश स्वभाव वाला ही विद्वानों ने अनुभव किया है । और जब चिदाभास में ही ज्वरों का होना असंभव है तब चिदात्मा मुझ साक्षी में तो ज्वर होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है, किन्तु अज्ञानवश चिदाभास अपने को उन शरीरों के साथ

एकता मानकर उनके तापों से अपने को सन्तप्त मान बैठेता है । अर्थात् स्वयं कष्ट से मुक्त होते हुए भी देह के साथ एकता जान अपने को देह के दुःख से व्यर्थ ही दुःखी मान बैठता है । जैसे लोक में कुटुम्बियों को दुःखी देख अपने को भी मनुष्य दुःखी मान लेता है कि आजकल मैं बहुत दुःखी हूँ । चिदाभास भी अपने सहित तीनों शरीरों में साक्षी का सत्यता का अध्यास करके उन ज्वर सहित तीनों शरीरों को अपना वास्तविक रूप समझ बैठता है और भ्रान्तिवश शरीरों के संताप को अपने आप में आरोपित कर ''मैं ही संतप्त (दुःखी) हो रहा हूँ'' ऐसा समझता रहता है ।

परन्तु विवेक अवस्था में यह दुःख नहीं होता अर्थात् चिदाभास जब कूटस्थ शरीरों के तथा अपने भेदों को पृथक् पृथक् जानकर ''यह देह संघात मैं ही हूँ'' इस भ्रांति को छोड़ कर तथा अपने को आभास रूप (मिथ्या) जानने से अपने आप को कुछ नहीं मानता हुआ सदा साक्षी का ही विचार करता हुआ सोऽहम, अहंब्रह्मास्मि, शिवोऽहम् भावना को धारण करने के फल स्वरूप इस ज्वर वाले शरीर के पीछे दुःखी नहीं होता । तात्पर्य यह है कि चिदाभास अज्ञान काल की तरह ज्ञानोत्पत्ति पश्चात् शरीर के ज्वरों का दुःख उसे दुःख रूप नहीं होता व अज्ञानकाल में किये दुःखों का विचार करने पर उसे पश्चाताप ही होता है कि मैं व्यर्थ ही शरीरों के पिछे अकारण दुःखी होता रहा और साक्षी आत्मा पर लगाये भोक्तृत्वादि मिथ्या दोषों के अपराध का प्रायश्चित करने के लिये साक्षी आत्मा की शरण में पहुँचता है । अर्थात् अपनी सत्ता का उसी में लय करके अपने को पृथक् रूप से कुछ भी नहीं मानता हुआ मैं सच्चिदानन्द हूँ ऐसे कहने लगता है और बारम्बार ध्यान करता हुआ-सा सदा साक्षी परायण रहने लगता है । फिर वह कभी भी ज्ञानी व्यक्तियों के सम्मुख ''मैं'' कहने में लज्जा का अनुभव करता है । जैसे गुप्तांग में कोढ़ रोग वाली वैश्या विलस में लज्जा मानती है । और फिर कभी भी चिदाभास उन तीनों शरीरों के साथ एकता को प्राप्त नहीं होता न उनके दुःख में दुःखी मानता है । जैसे म्लेच्छों से पकड़ा हुआ ब्राह्मण प्रायश्चित करने के

पश्चात फिर म्लेच्छों से नहीं मिलता वैसे ही चिदाभास प्रायश्चित करके देहों के साथ तादात्म्यता नहीं करता है ।

प्रश्न - ११८ : आत्मज्ञान से तो चिदाभास का ही नाश हो जाता है फिर वह किस हेतु से साक्षी का अनुसरण करने लगता है ?

उत्तर : श्रुति के द्वारा चिदाभास ने जाना है कि जो ब्रह्म को जानता है वह निश्चय से ब्रह्म ही हो जाता है । अतः उस ब्रह्म में एकनिष्ठ होकर उस ब्रह्म को ही जानता है अन्य को नहीं और ब्रह्म भाव रूप आत्म साम्राज्य की इच्छा से सदा साक्षी का अनुसरण करने लगता है ।

जैसे लोक में दवता सुख प्राप्ति की चाह से, सती कहलाने की चाह से, देश भक्त कहलाने के इच्छा से लोग अग्नि प्रवेश, युद्धादि में देह का नाश कर जाते हैं । इसी प्रकार साक्षी भाव में स्थित रूप महान फल की प्राप्ति के लिये चिदाभास अपने बिनाश तक को भी चाहने में सुख ही मानता है ।

प्रश्न - ११९ : तत्त्वज्ञान द्वारा अज्ञान एवं उसका कार्य जीव भाव तथा भोक्तापन दूर हो जाने पर पुनः भोग क्यों कर प्राप्त होते हैं और मैं मनुष्य हूँ यह विपरीत प्रतीति कैसे होने लगति है ?

उत्तर : जैसे आँख बन्द करने के बाद भी देखी वस्तु का रूप कुछ क्षण के बाद ही अदृश्य होता है अथवा पंखा बिजली से अलग कर लेने के बाद भी कुछ मिनट तक चलता ही रहता है । अथवा रस्सी में से सर्प भ्रांति दूर हो जाने के बाद भी सर्प भय से उत्पन्न कंपकपी कुछ समय पश्चात ही हटती है । अथवा साईकल, मोटर, ट्रेनादि बाहनों में ब्रेक लगा देने पर भी कुछ आगे चलकर ही रुकते हैं । ऐसे ही प्रारब्ध भोग भी धीरे ही निवृत्त होता है । वह हठात् जबर्दस्ती नहीं हटता और भोगकाल में मैं मनुष्य हूँ यह प्रतीति भी उसी प्रकार होने लगाती है जैसे कम अन्धकार में फेंकी हुई वह रस्सी पुनः सर्पाकार प्रतीत होती है, किन्तु पूर्व की तरह अब भय उत्पन्न नहीं कर सकती है ।

प्रश्न - १२० : तत्त्वज्ञान के पश्चात् भी भोगकाल में ''मैं मनुष्य हूँ'' इस प्रतीति के होने से उसका तत्त्वज्ञान नष्ट नहीं होता होगा ?

उत्तर : ''मैं मनुष्य हूँ'' इस प्रतीति रूप छोटी अपराध से श्रुति स्मृति के अकाट्य प्रमाणों से उत्पन्न तत्त्वज्ञान नष्ट नहीं होता और यह मनुष्य बुद्धि को दूर करना कोई जपादि की तरह निरन्तर नियम पूर्वक करने की आवश्यकता भी नहीं है । केवल सम्यक् ज्ञान से भ्रांति ज्ञान की निवृत्ति ही कर्तव्य है । यदि कभी विपरीत भावना भोक्तापन की, कर्तापन की, जीवपने की आयेगी भी तो उसे तत्त्वज्ञान ही दूर कर देगा, क्योंकि विपरीत भावना प्रारब्ध कर्म के वेग से तत्त्वज्ञान होने पर भी आती रहती है । यदि कहो कि फिर जीवनमुक्ति के लिये पुरुषार्थ करना ही व्यर्थ है, यदि तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् भी संसार की अनुवृत्ति होती है । तो यह समझना भूल है, क्योंकि जीवन्मुक्ति का पुरुषार्थ प्रारब्ध से प्राप्त दुःख को छिपा देता है । इसीलिये संसार की अनुवृत्ति चाहे हो तो भी जीवन्मुक्ति के लिये पुरुषार्थ करना लाभदायक तो है ही ।

जीवनमुक्ति कोई व्रत नियम पूर्वक निरंतर करने का नहीं है । अतः जब-जब अध्यास हो याने भ्रांति हो तब-तब विवेचन करे । जैसे जब-जब भूख लगे तब खावे उसके लिये निरंतर नियम पूर्वक खाने की जरूरत नहीं रहती है । हाँ अध्यास द्वारा उत्पन्न प्रत्यक्ष दुःख रूप विक्षेप को हटाने के लिये बार-बार ब्रह्म का विचार करना चाहिये । ''मैं मनुष्य हूँ'' अध्यास अनादि काल के अभ्यासवश चलता ही रहता है । उसके कारण तत्त्व ज्ञान नष्ट नहीं हो सकता बल्कि तत्त्वज्ञान से यह अध्यास निवृत्त हो जाता है ।

प्रश्न - १२१ : अपरोक्ष ज्ञान से उत्पन्न तृप्ति तथा विषय सेवन से उत्पन्न तृप्ति में क्या भेद है ?

उत्तर : विषयों से मिलने वाली तृप्ति दूसरे विषय की कामना से कुंठित होने के कारण सीमित (क्षणिक) तृप्ति रूप है । वह अंकुश सहित है, क्योंकि

उस तृप्ति के समय में अन्य विषय की कामना बनी रहती है । और आत्मज्ञान से जो तृप्ति होती है वह निरंकुश होती है, अपरिमित होती है, क्योंकि इस तृप्ति में मुमुक्षु इस प्रकार तृप्त होता है कि मैंने करने योग्य सब कर लिया और प्राप्त होने योग्य ब्रह्म मुझे प्राप्त हो गया । इस तत्त्वज्ञान के पूर्व इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी भोगों की सिद्धि और मोक्ष सिद्धि के लिये बहुत से कर्त्तव्य करने थे वे सब अब ज्ञानोदय के पश्चात बिना किये भी सब किये हुए के समान ही हो गये । अर्थात् ज्ञानोदय से पहले इच्छित पदार्थों की प्राप्ति प्रतिकूल पदार्थों की निवृत्ति स्वर्गादि के लिये उपासना एवं मोक्ष प्राप्ति हेतु श्रवण, मननादि जो कुछ कर्त्तव्य थे वे सब ज्ञानोदय हो जाने पर सांसारिक फलों की इच्छा न रहने के कारण तथा स्वर्ग एवं मोक्ष की इच्छा ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने के कारण किये से हो गये । अब कुछ करना शेष नहीं । इस प्रकार की निरंकुश तृप्ति का मुमुक्षु अनुभव कर लेता है ।

परलोक जाने की इच्छा वाले पुरुष भले ही यज्ञादि शुभ कर्म करें, परन्तु सर्वलोक बना हुआ मैं भला उन कर्मों को क्यों करूँ ? कैसे करूँ ? जो आचार्य परोपकार के अधिकारी है वे भले ही शास्त्रों की व्याख्या करे या वेद पढ़ावें । मैं तो अब अक्रिय हूँ, इस कारण मेरा इन कामों में अधिकार ही नहीं है ।

निद्रा, भिक्षा, स्नान और शौच आदि कर्मों को मैं चिदाभास न तो चाहता ही हूँ और न करता ही हूँ । यदि देखने वाले कल्पना से इनको मेरे काम मानते हैं तो माने । उसके मानने से मेरा क्या बने या बिगड़ेगा ? दूसरों से आरोपित सांसारिक धर्मों को मैं नहीं अपनता ।

प्रश्न - १२२ : तत्त्वज्ञानी को श्रवण मननादि तो करना कर्त्तव्य है या नहीं ?

उत्तर : तत्त्व को न जानने वाले मुमुक्षु के लिये ही श्रवण, मननादि करना कर्त्तव्य है, किन्तु तत्त्वज्ञानी के लिये श्रवणादि कोई कर्त्तव्य नहीं है ।

इसमें स्मृति प्रमाण है ''तस्य कार्य न विद्यते'' और तत्त्व के स्वरूप के प्रति संशय युक्त व्यक्ति भले ही मनन करे, किन्तु संशय रहित मुझ तत्त्वज्ञानी के लिये मनन करना कर्त्तव्य नहीं है । जिसको विपरीत ज्ञान अपने प्रति है वे भला निदिध्यासन करें क्योंकि देह आत्मा है यह जो विपरीत ज्ञान है वह मुझे कभी होता ही नहीं तो मैं निदिध्यासन क्यों करूँ ?

व्यवहार को कोई बाधक मानकर ध्यान करना चाहे तो करे किन्तु मैं तो व्यवहार को अबाधक देखता हूँ । इसलिये मैं ध्यान भी किस हेतु से करूँ ? क्योंकि मुझे विक्षेप नहीं होता इसलिये मुझे समाधि की भी आवश्यकता नहीं होती । विक्षेप और समाधि दोनों विकारी मन के धर्म हैं । उत्पत्ति बिनाश रहित मुझे नित्यानुभव स्वरूप से भिन्न पृथक् अनुभव कौन सा है । इसलिये समाधि का फल रूप अनुभव भी मुझे संपादन करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि मुझे तो अब यह निश्चय हो गया है कि जो कुछ करना था कर लिया, जो कुछ पाना था पा लिया । अब मैं समस्त कर्तव्य से मुक्त हूँ ।

प्रश्न - १२३ : तत्त्वज्ञानी को अपने लिये तो कुछ भी करना कर्त्तव्य नहीं रहता, किन्तु जगत् के कल्याणार्थ तो कर्त्तव्य है या नहीं ?

उत्तर : ज्ञानी के कर्म करने में दो ही पक्ष हो सकते हैं । (१) अपने लिये, (स्वार्थ) (२) दूसरों के लिये (परार्थ) ।

स्वार्थ पक्ष में भी दो लक्ष्य हो सकते हैं । (१) इह लोक सम्बन्धी फल के लिये, (२) परलोक सम्बन्धी फल के लिये ।

इहलोक की इच्छा में भी तीन प्रकार का भेद है । (१) शरीर रक्षार्थ, (२) विलासार्थ, (३) पुत्र, शिष्य आदि परिग्रह के रक्षार्थ । अब इन्हें पृथक्- पृथक् जान लें कि ज्ञानी किस हेतु से कर्म करेगा ?

(१) शरीर रक्षार्थ विद्वान कर्म नहीं करता क्योंकि शरीर रक्षा तो प्रारब्ध के कर्माधीन होती है ।

(२) सबको आत्मा ही देखने वाला विद्वान् किसी भी अन्य वस्तु पदार्थ में क्यों रमण करेगा ? इसलिये विलासार्थ भी कर्म नहीं कर सकता ।

(३) परिग्रह के रक्षार्थ भी विद्वान् कर्म नहीं कर सकता, क्योंकि वह तो पुत्र, वित्त और लोक इन तीनों एषणाओं से ऊपर उठ चुका होता है । अतः इहलोक के लिये विद्वान् कर्म नहीं करेगा ।

अब विचारणीय रहा परलोक सम्बन्धी इच्छा से वह कर्म करेगा या नहीं । परलोक सम्बन्ध में भी तीन भेद है । (१) स्वर्ग के लिये, (२) अपवर्ग (मोक्षार्थ) के लिये, (३) आत्म शुद्धि के लिये ।

(१) स्वर्ग के लिये विद्वान् कर्म करेगा ही क्यों ? क्योंकि उसकी तो समस्त लोकों की कामना यहीं क्षीण हो गई है ।

(२) ज्ञानोत्पत्ति के क्षण से ही वह जीवनूमुक्त दशा में है, तो मोक्ष तो उसका हो ही चुका है । देह प्रारब्ध समाप्त होने पर गिरते ही उसका विदेह मोक्ष तो इन्तजार ही कर रहा है, तो वह मोक्ष के लिये भी कर्म नहीं करेगा ।

(३) आत्म शुद्धि हेतु भी विद्वान कर्म नहीं करेगा क्योंकि चित्त शुद्धि बिना तो आत्मज्ञान होता ही नहीं है । शुद्ध, नित्य, निरवयव आत्मा की शुद्धि की तो कल्पना भी नहीं हो सकती । शरीर की शुद्धि कर्म द्वारा हो ही नहीं सकती, क्योंकि शणीर में मल, माँस, रक्त, कफ, मूत्र, चर्म, अस्थि आदि अपवित्र वस्तुएँ ही है । अतः विद्वान् आत्मशुद्धि के ऊपरोक्त तीनों पक्ष हेतु भी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता ।

यहाँ तक के निश्चय से यह ज्ञात हो गया कि विद्वान् स्वार्थ के लिये ऊपरोक्त किसी भी पक्ष को लेकर कर्म करने में प्रवृत्त नहीं होता । अब यह शंका उठ सकती है कि स्वार्थ के लिये तो नहीं करता किन्तु परार्थ हेतु से तो कर्म करना उसका कर्तव्य होता ही होगा । तो अब परार्थ पर विचार कर लें

।

पराार्थ कर्म हेतु कर्त्तव्य मानें तो वह ज्ञानी या तो सन्यासी होगा या गृहस्थ ? इनमें से संन्यासी तो यों ही कर्म और उनके साधनों का त्याग किये रहते हैं, क्योंकि ब्रह्मात्मा की एकता जानने वाले ज्ञानी को कर्म के पाँचों उपयोग - उत्पत्ति, नाश, प्राप्ति, विकार और संस्कार का अभाव ही रहता है ।

गृहस्थ को जब ब्रह्मात्मा की एकता का ज्ञान उत्तप्न हो जायेगा तो वह याज्ञवल्क्य आदि की तरह तीनों एषणाओं से ऊपर उठ जायेगा । तब उससे भी परार्थ कर्म क्यों होंगे ? क्योंकि परार्थ कर्म भी तो अपने पुण्य वृद्धि एवं लोक प्रतिष्ठा को लेकर ही होते हैं या निष्काम कर्म अन्तःकरण की शुद्धि हेतु होते है । और अन्तःकरण की शुद्धि तो उसे पूर्व से सिद्ध ही है ।

साधक मुमुक्षु को तो लोक संग्रहार्थ कर्म करने का कहीं भी आदेश नहीं है, बल्कि उसे तो कर्म का त्याग कर ब्रह्मनिष्ठार्थ ही अभ्यास करना कर्त्तव्य है ।

अपरोक्ष ज्ञानी को लोक संग्रहार्थ कर्म करना पड़ता है । यह मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा ज्ञानी तो सब संसार को मुक्त ही देखता है । उसकी दृष्टि में तो कोई बद्ध है ही नहीं । फिर वह परार्थ कर्म किस उद्देश्य से करेगा ?

तात्पर्य यह है कि विद्वान् पुरुष किसी भी हेतु से कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है । परोक्ष ज्ञानी आत्मवान् ही लोक संग्रहार्थ कर्म करता है, सिद्ध (अपरोक्ष ज्ञानी) और साधक मुमुक्षु नहीं करते ।

प्रश्न - १२४ : यदि तत्त्वज्ञानी का कुछ भी कत्तव्य नहीं मानेंगे तो प्रारब्ध से उसका यथेष्टाचरण होगा तो उसकी हानि होगी या नहीं ?

उत्तर : भिक्षा भोजन आदि लौकिक जप समाधि आदि शास्त्रीय तथा हिंसा व्यभिचार आदि अन्य निषेध व्यवहार अथवा कर्ता भोक्ता आदि रूप से जो मैं पृथक् हूँ उसे प्रारब्ध के अनुकूल भले व्यवहार होता है उससे मेरी (ज्ञानी की) कुछ हानि नहीं है, क्योंकि तीव्र प्रारब्ध को भोगे बिना कोई निवृत्त भी नहीं कर सकता । अथवा कृतकृत्य ''मैं'' (तत्त्वज्ञानी) भी प्राणियों पर कृपा करने की इच्छा से शास्त्रीय मार्ग से भी चलुँ तो इसमें उसकी कोई हानि नहीं है ।

शरीर देवपूजा, स्नान, शौच, भिक्षा आदि कुछ भी करे, वाणी प्रणव का जप करे अथवा वेदान्त शास्त्र को पढ़े । बुद्धि विष्णु आदिक ध्यान करे या ब्रह्मानन्द में विलीन हो जाये । मैं साक्षी यहाँ न कुछ करता हूँ न कुछ करवाता हूँ । इस प्रकार का तत्त्वज्ञानी का निश्चय होने के कारण उसे शास्त्रीय मार्ग से चलने का या स्वतन्त्र मार्ग से चलने का अभिमान अथवा विकार नहीं होता ।

ज्ञानी ने मिथ्या जान कर देह, वाणी और बुद्धि को छोड़ दिया है । कर्मी का आग्रह देह, इन्द्रिय, प्राण, वाणी, बुद्धि में होता है और तत्त्वज्ञानी का आग्रह साक्षी में होता है । कर्मी इन देहादि में प्रवृत्त होता है तो भले हो उससे ज्ञानी को न कोई हानि है न विरोध है । और कर्मी जिस साक्षीत्व को नहीं पहचानता उसको तत्त्वज्ञानी जान ले तो इस में कर्मी की क्या हानि ? इस प्रकार तत्त्वज्ञानी का कर्मी के साथ किसी प्रकार का विरोध नहीं है और तत्त्वज्ञानी किसी प्रकार कर्मों के अधीन नहीं है । इस प्रकार दोनों का क्षेत्र पृथक् है ।

प्रश्न - १२५ : महावाक्य के प्रमाण से उत्पन्न बोध पुनः प्रारब्ध से उत्पन्न कर्तृत्वाध्यास से नष्ट होता है या नहीं ?

उत्तर : ज्ञानी के लिये प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों समान है । न उसे निवृत्ति का ही प्रयोजन है और न उसे प्रवृत्ति से कोई हानि है । महावाक्य के प्रबल

प्रमाण से उत्पन्न बोध तो किसी भी प्रमाण से नष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि महावाक्य से बलवान प्रमाण तो होता ही नहीं। इसलिये महावाक्य द्वारा उत्पन्न बोध स्थिर रहता है। और फिर उसे स्थिर रखने के लिये भी अन्य कर्म उपासनादि साधन की अपेक्षा नहीं रहती। न उसे संसार निवृत्ति आदि साधनों की ही अपेक्षा रहती है। बोध की स्थिरता निवृत्ति पर निर्भर नहीं करती बल्कि अज्ञान न हो इस बात पर ही निर्भर करता है। फिर अविद्या अथवा उसका कार्य भी बोध को नष्ट नहीं कर सकता, क्योंकि बोध के द्वारा तो पहले ही इन दोनों का नाश हो गया होता है।

बाधित अविद्या का कार्य चाहे इन्द्रियों से प्रतीत होता रहे, परन्तु उससे बोध का बाध नहीं होता। जैसे जीता हुआ चूहा ही बिल्ली को नहीं मार सकता तब मरा हुआ तो मार ही कैसे सकता है ? लेशा विद्या के परिणाम स्वरूप द्वैत प्रपंच की प्रतीति भले ही होती रहे, किन्तु प्रतीति मात्र से तत्त्वज्ञानी के ज्ञान का नाश नहीं होता। इसलिये तत्त्वज्ञानियों का द्वैत अदर्शन में आग्रह नहीं होता, क्योंकि बोध के मारे हुए अज्ञान के कार्यों के मुर्दे भले ही पड़े रहे उनसे बोध रूपी सम्राट को क्या डर है ? इससे तो उसका यश है कि देखो ये बोध सम्राट द्वारा मारे गये शत्रु पड़े हैं।

जो पुरुष ऐसे शूरवीर हैं जो अविद्या और उसके कार्य के घातक ब्रह्मात्मा के एकत्व ज्ञान रूप बोध से कभी भी अलग नहीं होते। उस शूरवीर ज्ञानी के लिये देहादिक की प्रवृत्ति या निवृत्ति से क्या हानी लाभ है ? अर्थात् उसके लिये दोनों अवस्था समान है। किन्तु बोध हीन जिज्ञासु को तो यज्ञ, श्रवणादि प्रवृत्तियों में आग्रह करना सर्वथा उचित ही है, क्योंकि मनुष्यों को स्वर्ग या मुक्ति के लिये तबतक प्रयत्न करना ही चाहिये जबतक उन्हें पूर्णबोध नहीं होता है।

प्रश्न - १२६ : तत्त्वज्ञानी पुरुष जिज्ञासुओं तथा अज्ञानियों के मध्य रहकर कैसा व्यवहार करता है तथा उसे किस प्रकार की तृप्ति रहती है

?

उत्तर : तत्त्वज्ञानी तो निरंकुश होता है । उसके ऊपर शास्त्र का किसी प्रकार का आदेश नहीं चल सकता कि तुम अमुक कार्य करो एवं अमुक कार्य न करो । वह इस प्रकार के विधि निषेध से मुक्त हती है । क्योंकि शास्त्र आज्ञा तो अज्ञानियों के लिये ही उपयोगी रहता है । फिर भी विद्वान् यदि कर्मियों के मध्य रहे तो उनके अनुसार शरीर, मन और वाणी आदि से सब क्रियाएँ करे । उन कर्मियों को उनके करने का निषेध नहीं करे, क्योंकि वे तो अभी आत्मज्ञान उपदेश के अधिकारी नहीं बने हैं । भगवान श्रीकृष्ण भी कहते हैं -

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म सर्ंिनाम् ।
जोषयेत्सर्व कर्माणि विद्वन्युक्तः समाचरन् ॥

- गीता : ३/२६

अर्थात् कर्मों में दृढ़ आसक्ति वाले अज्ञानी मनुष्यों की बुद्धि को ज्ञानी जन भ्रमित न करे, किन्तु उन्हें आसक्ति बिना निष्काम भाव से कर्म करने का उपदेश करे । जिससे उनका अन्तःकरण शुद्ध हो एवं वे ज्ञान के अधिकारी बने । आगे पुनः कहा है -

प्रकृतेर्गुणसंमूढ़ाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत ॥

- गीता : ३/२९

अर्थात् प्रकृति के गुणों द्वारा अत्यन्त मूढ़ हुए (मोहित हुए) मनुष्य गुण तथा कर्म में ही आसक्त होते हैं, किन्तु आत्मतत्त्व से रहित उन अज्ञानियों को पूर्ण ज्ञानी जन कर्म से भी भ्रष्ट न करे, क्योंकि जिसके पास टेरीलिन, नायलन, रेशम के कपड़े नहीं है उसको टाट या खादी से भी वंचित न करे देह रक्षा तो होती ही है

तात्पर्य यह है कि अज्ञानी दया के पात्र हैं और ज्ञानी पुरुष दयावान् कृपालु है । इसलिये अज्ञानी के अनुसार ही ज्ञानी व्यवहार करने लग जाता है

। देखते हैं कि दूध पीते बच्चे के अनुसार ही उसके पिता का व्यवहार होता है । यदि बच्चे अपने पिता को बुरा कह दें, गाली दें या मार भी दें तो पिता उन्हें बदले में सजा नहीं देता बल्कि उन्हे प्यार ही करते हैं । क्रोध नहीं करते न दुःख मनाते हैं । वह विद्वान् तो निन्दा स्तुति दोनों को पाकर दुःखी सुखी नहीं होता । अपितु उन अज्ञानियों को जिस प्रकार भी बोध हो जावे वही चेष्टा करता है । यानि अज्ञानी को जिस आचरण से तत्त्वबोध हो वही आचरण करता है, क्योंकि ज्ञानी का अज्ञानी को बोध देने के अतिरिक्त तो और कुछ स्वार्थ या कर्तव्य नहीं है । अज्ञानी की भाँति काम करने में लगना उसे तो इष्ट (प्रिय) नहीं है । केवल उन्हें तत्त्वबोध देने का ही उसकी प्रवृत्ति होती है ।

और वह विद्वान जब जिज्ञासुओं के मध्य रहता है तब वह उनको तत्त्वबोध कराने के लिये जिन क्रियाओं को अज्ञानियों को करने को बताया था, उन क्रियाओं का फल नाशवान बताकर उन समस्त क्रियाओं के गुप्त दोषों को बताता है और स्वयं भी उन समस्त क्रियाओं को छोड़ देता है, जो अज्ञानियों के बीच रहकर नाटक रूप से करना प्रारम्भ किया था ।

वह विद्वान तो अपनी कृतकृत्यता से सन्तुष्ट होकर मस्त विचरता है और यही मानता है कि मैं अपने करने योग्य सब कर चुका एवं पाने योग्य सब पा चुका अब मैं धन्य हूँ, क्योंकि आत्मज्ञान के परिणाम स्वरूप संपूर्ण इच्छित फल मिल जाने से मैं कृतार्थ हूँ और आत्मज्ञान का लाभ ब्रह्मात्मा मुझे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है । अब मुझे संसार रूप दुःख नही दीख पड़ता एवं कर्म वासनाओं का समूह भी नष्ट हो गया इसलिये मैं धन्य हूँ ।

धन्य मेरे गुरु एवं उनका बताया ज्ञान जिससे मुझे इस प्रकार तृप्ति मिली कि आज मेरे सामने लोक में तृप्ति कहीं नहीं है । धन्य है मेरा पुण्य जिसका ऐसा फल हुआ कि मैं सदा देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित अपने प्रत्यगात्मा को साक्षात् जानता हूँ ।

प्रश्न – १२७ : चैतन्य के दो रूप कौन से हैं तथा उनके होने में क्या

दृष्टान्त है ?

उत्तर : सामान्य चेतन तथा विशेष चेतन एक ही चैतन्य के उपाधि भेद से दो नाम पड़ गये हैं । जैसे आकाश में स्थित एक सूर्य का सामान्य प्रकाश तो सर्वत्र स्वयं प्रकाशित होता ही है, किन्तु उसी सूर्य को दर्पण आदि स्वच्छ उपाधि के द्वारा किसी वस्तु पर प्रतीविम्बित करने से विशेष प्रकाश जगमगाने लगता है, और दर्पण आदि उपाधि को हटा लेने पर पुनः पूर्व की तरह स्थित सामान्य प्रकाश ही रह जाता है । उसी प्रकार शरीर का अधिकारी सामान्य चैतन्य से प्रकाशमान होना सामान्य रूप है तथा बुद्धि में स्थित चिदाभास रूप जीव उपाधि से प्रकाशित होना विशेष रूप है । इस प्रकार देह के सामान्य चेतन और विशेष चेतन प्रकाशक हुए ।

किसी दीवाल पर अनेक दर्पणों के मध्य-मध्य में आकाश स्थित सूर्य का सामान्य प्रकाश स्पष्ट दीखता है हल्के प्रकाश के रूप में और यह प्रकाश दर्पणों द्वारा पड़े विशेष प्रकाश के अभाव में भी स्वयं प्रकाश रूप ही सर्वत्र दिवालादि पर प्रकाश करता रहता है ।

ऊपरोक्त दृष्टान्त की ही तरह बुद्धि स्थित चिदाभास रूप उपाधि द्वारा एक चैतन्य ही नाना कारण द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि के एवं बुद्धि वृत्तियों के रूप तथा जाग्रत, स्वप्न आदि अवस्थाओं के रूप में विशेष रूप से प्रतिविम्बित होता रहता है । इन विशेष अवस्थाओं के हट जाने पर सुषुप्ति में सबके अभाव को प्रकाशित करने वाले तथा घट ज्ञान व पट ज्ञान के मध्य की सन्धि को याने वृत्ति के अभाव को प्रकाश करने वाला समाधि मूर्च्छा आदि को प्रकाश करने वाला सामान्य चैतन्य अपना कूटस्थ आत्मा ही जानना चाहिये ।

भावार्थ यह है कि जैसे आकाश के सूर्य से दो प्रकार का प्रकाश है, सामान्य एवं विशेष इसी प्रकार देह के भी दो प्रकाशक है एक सामान्य एवं दूसरा विशेष । तथा आकाश के सूर्य द्वारा सामान्य रूप से प्रकाशित वस्तुओं

को दर्पण द्वारा विशेष रूप से प्रकाशित करता है । उसी प्रकार कूटस्थ के सामान्य रूप से प्रकाशित देह को बुद्धि में स्थित चैतन्य का आभास (जीव) विशेष रूप से प्रकाशित करता है । और चिदाभास से युक्त अनेक बुद्धि वृत्तियों को तथा उनके सन्धि को एवं उनके अभाव को प्रकाशित करते हुए कूटस्थ आत्मा को आकाश के सूर्य की प्रभा के समान भिन्न जानना चाहिये । इस प्रकार देह के भीतर चिदाभास एवं ब्रह्म पृथक् पृथक् है ।

प्रश्न - १२८ : किसी वस्तु के ज्ञान में चिदाभास तथा चैतन्य का क्या कार्य है ?

उत्तर : एक घट को जानने में अन्तःकरण की बुद्धि वृत्ति नेत्र द्वारा निकलकर घट तक जाकर घट के आकार को धारण कर ''यह घट है'' इस प्रकार घट को प्रकाशित करने वाला बुद्धि में स्थित चिदाभास है । परन्तु उसका जो ज्ञाततापना है याने ''मैंने घट जान लिया'' इस प्रकार के व्यवहार का कारण घट कल्पना के अधिष्ठान साधन ब्रह्म चैतन्य द्वारा ही प्रकाशित होता है ।

यदि यह शंका करें कि जब घट के ज्ञातता का भासक चैतन्य ही है, तो बुद्धि का क्या काम है । तो उसका समाधान यह है कि घटाकार बुद्धि के उदय होने से पूर्व इस घट के सम्बन्ध में कोई पूछता कि क्या तुम घट को जानते हो ? तो कहता कि मैं घट को नहीं जानता हूँ । इस प्रकार अज्ञात रूप में ब्रह्म चैतन्य प्रकाशित करता है । और घटाकार बुद्धि के उदय होने के पश्चात् मैं घट को जानता हूँ । इस प्रकार ज्ञात रूप में भी ब्रह्म चैतन्य प्रकाशित करता है । बुद्धि तो केवल वस्तु पदार्थों की पहचान कराने का ही साधन मात्र है । ज्ञातता और अज्ञानता का प्रकाशक चैतन्य ब्रह्म ही है । भावार्थ यह है कि बुद्धि के उदय होने के पूर्व वस्तु को अज्ञात रूप से व बुद्धि के उदय होने पर वस्तु को ज्ञात रूप से ब्रह्म ने ही प्रकाशित किया, किन्तु घट पटादि ज्ञान बुद्धि का धर्म है चैतन्य का नहीं । चैतन्य तो ज्ञातता एवं अज्ञानता का भी प्रकाशक है । बिना बुद्धि वृत्ति के पदार्थ का ज्ञान केवल ब्रह्म चैतन्य से नहीं

होता, क्योंकि सुषुप्ति में ब्रह्म चैतन्य के रहते हुए भी बुद्धि वृत्ति के अभाव के कारण केवल सबका अभाव रूप ब्रह्म से ही प्रकाशित होता रहता है, परवस्तु पदार्थ कुछ प्रतीत नहीं होते ।

जैसे अंधकार में वस्तु रखी हो एवं व्यक्ति भी खड़ा हो तो उसे कमरे में कुछ नहीं दीखता, इस प्रकार अभाव रूप से ही वह प्रकाश कर पाता है । किन्तु वस्तुओं के आकार को बिना प्रकाश के नहीं देख पाता । परन्तु जब कमरे में प्रकाश आ जाता है तो फिर अब यह घड़ी को मैं देख रहा हूँ, ऐसी ज्ञानता भी आ जाती है । यदि वस्तु भी हो एवं प्रकाश भी सब आकारों को धारण किये हुए हो तो भी व्यक्ति के बिना केवल प्रकाश द्वारा वस्तु की ज्ञानता नहीं होगी, क्योंकि वस्तु की तरह प्रकाश भी जड़ है और जड़, जड़ का प्रकाशक हो नहीं सकता । इसी प्रकार चिदाभास रहित केवल बुद्धि भी वस्तु की तरह जड़ है । घट है वैसे ही बुद्धि भी है । चिदाभास से रहित बुद्धि में व घटादि विकार रूप पदार्थों में कुछ भेद नहीं है । अतः केवल ब्रह्म या केवल बुद्धि वस्तु ज्ञान का हेतु नहीं, अपितु चिदाभास युक्त बुद्धि वस्तु ज्ञान का हेतु है । बिना बुद्धि के तो ब्रह्म केवल अभाव का ही प्रकाशक है । तथा बुद्धि से भाव का भी प्रकाशक हो जाता है । जैसे सुषुप्ति में अभाव को एवं जाग्रत में भाव रूप संसार को प्रकाशित करता है । तात्पर्य यह है कि वस्तु पदार्थ के आकार को धारण करने वाली बुद्धि है एवं ब्रह्म उस आकार को प्रकाशित करने वाला है । बिना चैतन्य बुद्धि लंगड़ी है तो बुद्धि बिना ब्रह्म सूरदास कहा जा सकता है । क्योंकि सूरदास को सब अभाव रूप प्रतीत होता है । केवल वह अभाव का ही प्रकाशक है और नेत्र द्वारा भाव का भी प्रकाशक होता है । इस प्रकार ज्ञात पदार्थ एवं अज्ञात पदार्थ ब्रह्म द्वारा ही प्रकाशित होते हैं । क्योंकि चिदाभास तो ज्ञातता उत्पन्न करके ही शान्त हो जाता है । जैसे अज्ञान अशान्तता उत्पन्न करके शन्त हो जाता है और ज्ञात घट भी अज्ञात घट की तरह ब्रह्म चैतन्य से ही भासमान होता है ।

प्रश्न - १२९ : एक ही चैतन्य चार प्रकार का चैतन्य कैसे कहलाता

है ?

उत्तर : स्थान भेद अथवा उपाधि भेद के कारण एक चेतन ही (१) प्रमाता चेतन, (२) प्रमाण चेतन, (३) प्रमेय चेतन एवं (४) फल चेतन कहलाता है ।

जैसे किसी टंकी में भरा पानी छिद्र या नल द्वारा निकल कर नाली के आकार में खेत में जा उसके आकार का हो जाता है । ऐसे ही देह रूप टंकी में स्थित अन्तःकरण इन्द्रिय रूप छिद्रों से निकल कर घटादि पदार्थ रूप खेतों का आकार धारण कर लेता है ।

(१) अन्तःकरण विशिष्ट चेतन प्रमाता चेतन कहलाता है ।

(२) इन्द्रिय से लेकर विषय पर्यन्त विद्यमान वृत्ति से विशिष्ट चेतन प्रमाण चेतन कहलाता है ।

(३) घटादि अविच्छिन्न चेतन जब अज्ञात होता है तब विषय चेतन या प्रमेय चेतन कहलाता है ।

(४) जब वह विषय हो जाता है तब उसको फल चेतन या प्रमिति चेतन और प्रमा चेतन कहते हैं ।

पराक् अर्थात् बाह्य घटादि पदार्थ जब प्रमेय अर्थात् प्रमाणों के विषय बनते हैं तब जो ज्ञान (संवित्) प्रमाण का फल माना जाता है, उसका जो प्रकाशक है वही ज्ञान ब्रह्म इस वेदान्त शास्त्र में वेदान्त वाक्य रूपी प्रमाणों से जानने योग्य पदार्थ है । अर्थात् घटादि पदार्थ में चिदाभास रूप फल जो प्रमाण वृत्ति का फल है उस फल एवं प्रमाण वृत्ति के पूर्व में तथा प्रमाण वृत्ति के बाद में भी जो चैतन्य है वह ही वेदान्त का प्रमेय (जानने योग्य) है । जो प्रमाण एवं प्रमाण के द्वारा जाने गये विषय का ज्ञात रूप एवं अज्ञात रूप से प्रकाशक है, वही ब्रह्म है, अद्वय है, अखंड़ है । ब्रह्म चैतन्य किसी प्रमाण का फल नहीं है वह तो स्वयं प्रकाशक है ।

प्रश्न - १३० : कूटस्थ आत्मा का ज्ञान किस प्रकार कर सकते हैं ?

उत्तर : जाग्रत और स्वप्न में सब वृत्तियाँ क्रमशः रूक रूककर उत्पन्न होती है और सुषुप्ति, मूर्च्छा तथा समाधि में सभी वृत्तियाँ विलीन हो जाती है । इन वृत्तियों के भाव तथा अभाव याने दो वृत्तियों के मध्य काल को एवं वृत्तियों का अभाव जिस निर्विकार चैतन्य से प्रकाशित (ज्ञात) होता है उसे ही कूटस्थ साक्षी स्वरूप आत्मा कहते हैं ।

देह, इन्द्रिय, मन आदि से युक्त अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म दोनों शरीरों से युक्त जीवाभास चिदाभास रूप भ्रम का अधिष्ठान चैतन्य ही वेदान्तों में कूटस्थ शब्द का अर्थ कहा जाता है । संपूर्ण जगत् की कल्पना का अधिष्ठान चैतन्य वेदान्त में ब्रह्म शब्द से पुकारा जाता है ।

जैसे मुख, मुखाभास अर्थात् मुख का प्रतिविम्ब और प्रतिविम्ब का आश्रय रूप दर्पण ये तीन प्रत्यक्ष दीखते हैं । इसी प्रकार आत्मा कूटस्थ चिदाभास अर्थात् चैतन्य का प्रतिविम्ब और चिदाभास का आश्रय रूप अन्तःकरण आदि ये तीनों शास्त्र युक्ति एवं गुरु उपदेश द्वारा जाने जाते हैं ।

प्रश्न- १३१ : जीवाभास या चिदाभास के मिथ्या होने में क्या प्रमाण है ?

उत्तर : जब एक ही चैतन्य में समस्त जगत् आरोपित है तब उसी जगत् के एक भाग में जीवाभास या चिदाभास को माना है, तो उसकी सत्यता तो कहना ही असंभव है, क्योंकि जगत् ही मिथ्या है तो उस मिथ्या जगत् के एक देश में स्थित जीव कैसे सत्य हो सकता है ? कभी नहीं । अतः जगत् को मिथ्या मान लेने पर जीव को मिथ्या सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है, वह जगत् के साथ ही निवृत्त है ।

प्रश्न - १३२ : भ्रम का कारण क्या है तथा इसकी निवृत्ति कौन कर

सकता है ?

उत्तर : बुद्धि क्या है ? आभास क्या है ? आत्मा कौन है ? इसमें जगत् कैसे हुआ ? इन प्रश्नों का निर्णय न होने के कारण ही भ्रम उत्पन्न होता है । यह मोह ही संसार सब अनर्थों का मूल कहलाता है ।

जो बुद्धि आभास आत्मा जगत्ादि के वास्तविक स्वरूप का विवेचन उपदेश से करता है वही तत्त्वज्ञानी है और वही मुक्त है ऐसा वेदान्त शास्त्रों का निर्णय है । अर्थात् बुद्धि आभास आत्मा आदि का विवेक ही भ्रम का निवारक है ।

प्रश्न - १३३ : पुराणों में ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप किस प्रकार से बतलाया है ?

उत्तर : पुराणों में कहा है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि वृत्तियों की उत्पत्ति के समय एवं वृत्ति के उदय से पूर्व उस वृत्ति के प्रागभाव का यह शिव ही साक्षी होकर स्थित है । स्वरूप को जानने की इच्छा होने पर उन इच्छा का साक्षी और जिज्ञासा से पूर्व ''मैं अज्ञानी हूँ'' इस रूप में अनुभव करने वाला अज्ञान का प्रकाशक शिव (कूटस्थ आत्मा) ही है ।

और यह शिव (आत्मा) मिथ्या जगत् का अधिष्ठान रूप होने से ''सत्य'' है । सब जड़ पदार्थों का प्रकाशक होने से ''चैतन्य रूप'' है । और सदा प्रेम का आस्पद होने से ''आनन्द रूप'' है । और सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक होने से ''संपूर्ण अखंड'' कहलाता है ।

अभिप्राय यह है कि शिव (आत्मा) वृत्ति आदि दृश्य पदार्थों से भिन्न है, क्योंकि वह वृत्ति आदियों का साक्षी है जो वृत्ति आदि से भिन्न नहीं है । वह वृत्ति आदि का साक्षी भी नहीं है । इसी प्रकार -

(१) शिव सत्य है, क्योंकि असत् का अधिष्ठान है जैसे असत्य रजत (चाँदी) का अधिष्ठान शुक्ति (सीप) सत्य है । या असत्य सर्प का अधिष्ठान

रस्सी सत्य है । जो असत्य होता है वह कभी किसी का अधिष्ठान नहीं हो सकता ।

(२) शिव चिद्रुप है, क्योंकि जड़ मात्र का प्रकाशक है । जो चैतन्य रूप नहीं होता वह प्रकाशक भी नहीं होता । जैसे घटपटादि जड़ होने से किसी के प्रकाशक नहीं है ।

(३) शिव परम आनन्द रूप है, क्योंकि सर्वोत्कृष्ट प्रेम का विषय है । जो परमानन्द रूप नहीं होता वह परम प्रेम का आस्पद भी नहीं होता । जैसे आत्मा से अतिरिक्त समस्त दृश्य जगत् ।

(४) शिव परिपूर्ण है क्योंकि वह आकाश की भाँति सर्व संबन्धी है ।

इस प्रकार सूत संहिता आदि शैव पुराणों में शिव को याने कूटस्थ आत्मा को जीव ईश्वर जगत् आदि की कल्पना से रहित केवल अद्वितीय स्वयं प्रकाश चैतन्य स्वरूप का विवेचन किया है । माया आभास के द्वारा 'जीव ईश्वर'' को बना लेती है । यह श्रुति प्रमाण से सिद्ध है । अतः यह दोनों मिथ्या विकारी बिनाशी है ।

जैसे सृष्टिकर्ता मायिक है ऐसे ही देह में प्रवेशकर्ता भी मायिक है और दोनों का बिनाश भी समान है, किन्तु शिव (कूटस्थ आत्मा) अविकारी असंग एवं अबिनाशी है । हमारी निद्रा ही जब स्वप्न के जीव और ईश्वर की सृष्टि कर डालती है तो महामाया (दैवी माया) इन चेतन जीव ईश्वर को बना लेती है, इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

प्रश्न - १३४ : एक ही अद्वैत को समझने के लिये श्रुतियों में विवाद क्यों है ?

उत्तर : वाणी और मन से अगम्य उस तत्त्व को समझाने के लिये श्रुति सदा, जीव ईश्वर या जगत् का आश्रय लेकर बोध कराती है । जीव तथा ईश्वर के स्वरूप का वर्णन जीव तथा ईश्वर को सत्य बतलाने में नहीं है,

बल्कि असंग तत्त्व निज आत्मा के बोध कराने हेतु ही है । कूटस्थ तो असंग ही है । जन्म, जरा, रोग आदि से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । इस बात का मन में विचार रखें । श्रुति की परमार्थता तो इतनी ही है कि मरण, जन्म, बन्ध, मोक्ष साधक मुमुक्षु और मुक्त कोई कुछ भी नहीं है । इसलिये कुतर्क को छोड़कर श्रुति का ही आश्रय लेना चाहिये ।

जिस जिस प्रक्रिया से पुरुषों को ब्रह्म से अभिन्न प्रत्यगात्मा का ठीक ज्ञान हो जाये वही वही प्रक्रिया उसके लिये ठीक है । आत्मतत्त्व तो एक रूप है, किन्तु उसके समझाने की रीतियों में भेद है और वह भी भेद विभिन्न पुरुषों के चित्त की विषमता के कारण ही भिन्न-भिन्न द्रष्टान्त द्वारा बोध कराने के प्रयास के कारण ही प्रतीत होता है । श्रुतियों के सम्पूर्ण तात्पर्य को न जानकर मन्द बुद्धि के मनुष्य भ्रम में पड़ जाते हैं और विवेकी मनुष्य तो श्रुति के सम्पूर्ण तात्पर्य को जान कर आनन्द के समुद्र में टिकता है । विवेकी के लिये तो यह माया रूपी मेघ जगत् रूपी जल को चाहे जैसे बरसाता रहे । इसके बरसने से चैतन्य रूप आकाश की न कोई हानि है न लाभ है यही सच्ची स्थिति है ।

प्रश्न - १३५ : मोक्ष की प्राप्ति तो ज्ञान से ही सिद्ध होती है फिर ध्यान योग की क्या उपयोगिता है ?

उत्तर : वेदान्त शास्त्र के अनुसार नित्यानित्य वस्तु विवेक, वैराग्य, षटसंपती और मोक्ष की तीव्र इच्छा इन चार साधनों से युक्त और श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का अनुष्ठान करने वाले मुमुक्षु को ''तत्'' एवं ''त्वं'' पदों के अर्थ विवेचन द्वारा महावाक्यों के अर्थज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, किन्तु मन्द बुद्धि एवं प्रतिबन्धों के कारण जिसको उपनिषदों के श्रवण से भी अपरोक्ष ज्ञान न हुआ हो उसको महावाक्य के यथार्थ अर्थ को पकड़ने वाली बुद्धि की सूक्ष्मता ध्यानयोग याने उपासना द्वारा उपलब्ध कराकर ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्ति कराने में ही प्रयोजन है । केवल ध्यान या चित्त शुद्धि नहीं ।

तात्पर्य यह है कि वेदान्त शास्त्रों में अखंड, एक रस, ब्रह्म तत्त्व को परोक्ष जानकर ''मैं ब्रह्म हूँ'' इस रूप में उपासना की जाती है । इस प्रकार के उपासक को भी ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है । जैसे धुआँ देख कर चलने वाले को अग्नि की प्राप्ति हो जाती है वैसे मोक्ष का साधन तो ब्रह्मात्मैकता रूप अपरोक्ष ज्ञान ही है । वह जिसे उत्पन्न नहीं हुआ है उसे शास्त्रों से ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान होने पर ऊपरोक्त अपरोक्ष ज्ञान की लिये ब्रह्म को उपासना करना उचित ही है ।

बुद्धि आदि के साक्षी आनन्द रूप अन्तर आत्मा के स्वरूप को प्रत्यक्ष रूप से न जानकर भी शास्त्र से श्रवण करके ''ब्रह्म है'' ऐसा जो सामान्य ज्ञान होता है वह परोक्ष ज्ञान है । मन्द बुद्धि या प्रारब्ध दोष के कारण शास्त्र के प्रमाण से सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म का परोक्षज्ञान हो जाने पर भी विचार के अभाव में अपने प्रत्येक् अर्थात् आन्तर साक्षी आत्मा को ब्रह्म रूप से न जानने के कारण ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो पाता । ऐसा जिज्ञासु निर्गुण ब्रह्म के ध्यान का अधिकारी है । ध्यान से बुद्धि का मल नष्ट हो जाने पर वह ब्रह्म ज्ञान का अधिकारी हो माक्ष प्राप्त कर ही लेगा ।

प्रश्न- १३६ : जब सम्यक ज्ञान प्रमाण और प्रमेय के अधीन है तब तत्त्वमसि आदि प्रमाण और ब्रह्मात्मैकता रूप प्रमेय वस्तु के विद्यमान होने पर भी विचार द्वारा ब्रह्म का प्रत्यगात्मा रूप से बोध कठिन क्यों है ?

उत्तर : यद्यपि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से ब्रह्म का प्रत्यगात्मा रूप से उपदेश किया है तथापि यह प्रत्यगात्मा रूप 'तत्-त्वं' पदार्थ के विवेक से रहित वाक्य पुरुष के लिये कठिन है । इसलिये विचार रहित से अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि देहादिक में अज्ञानी की जो आत्मपने की दृढ़ भ्रान्ति है वह तो बारम्बार के विचार द्वारा ही निवृत्त हो सकती है, और भ्रान्ति के विद्यमान रहते हुए मन्द बुद्धि वाले पुरुष में इतनी सामर्थ्य नहीं होता है कि

वह एक बार गुरु मुख से तत्त्वमसि महावाक्य का उपदेश ग्रहण कर हठ से ही ''अहं ब्रह्मास्मि'' मैं ब्रह्म हूँ ऐसा समझ ले । इसलिये उसे तो बारबार विचार कर ही भ्रान्ति को दूर करना पड़ेगा, किन्तु जो शुद्ध अन्तःकरण संशय विपर्यय से रहित मुमुक्षु है उसे तो एक बार उपदेश द्वारा ही ब्रह्म को आत्मा रूप समझने का विवेक जाग्रत हो जाता है । उसे अभ्यास करने की भी जरूरत नहीं रहती ।

इस प्रकार मनुष्यों को ब्रह्म का साक्षात्कार (अपरोक्ष ज्ञान) तो विचार के बिना केवल गुरु मुख (आप्तोपदेश) से कभी संभव नहीं है । गुरु मुख से तो उपासना के अनुष्ठान के विषय में उपयोगी परोक्ष ज्ञान ही उत्पन्न होता है तथा बार बार विचार से अपरोक्ष ज्ञान होता है । यदि बारम्बार विचार करते हुए भी मरण पर्यन्त अपरोक्ष ज्ञान न हो तो उसका कारण जन्मान्तर प्रतिबन्ध है । उसके नष्ट हो जाने पर तो ज्ञान हो ही जायेगा । अतएव विचार व्यर्थ नहीं है । क्योंकि ब्रह्मसूत्र में कहा है -

ऐहिकम्य प्रस्तुत प्रतिबन्धे तदृर्शनात्

- ३/४/५१

विचार करने वाले को इस जन्म में या दूसरे जन्म में ब्रह्म ज्ञान हो ही जाता है । तथा कठोपनिषद में कहा है -

श्रवणोयापि बहुभिर्यो न लभ्यः ।
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ॥

- २/७

सुनने पर भी प्रतिबन्ध के कारण बहुत से लोग ब्रह्म को इस जन्म में नहीं जान पाते ।

तात्पर्य यह है कि प्रतिबन्ध के हटते ही गर्भवास के दिनों में ही वामदेव, प्रहलाद, नारद, ज्ञानदेव आदि पूर्व जन्म में किये अभ्यास द्वारा विचार के प्रभाव से इस जन्म में स्वयमेव अपरोक्ष ज्ञानी हो गये थे । याने इस

जन्म में अनुत्पन्न ज्ञान इस जन्म के अभ्यासवश दूसरे जन्म में उत्पन्न हो जाता है । जैसे आज का बोया बीज कालान्तर में समय पाकर स्वयं उत्पन्न हो जाता है । ऐसे ही आत्म विचार भी मन्द अधिकारियों को धीरे धीरे फल देता है ।

प्रश्न - १३७ : प्रतिबिन्ध (ज्ञान के आवरण करने वाले) कितने प्रकार के होते हैं तथा प्रतिबन्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर : बार बार विचार करने पर भी हम देखते हैं कि किसी किसी जिज्ञासु को तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता । उसका कारण यह है कि तीन प्रकार के भूत, भावी और वर्तमान प्रतिबन्ध में से कोई एक या दो प्रतिबन्ध उसे ज्ञान होने में विघ्न डाल रहे हैं, और प्रतिबन्ध के क्षीण होते ही जो ज्ञान पहले जन्म में अभ्यास करने पर भी उत्पन्न नहीं हुआ था वह ज्ञान इस जन्म में बिना अभ्यास के पूर्व जन्म के श्रुत विचार अभ्यास के प्रभाव से उत्पन्न हो जाता है । कई लोग ऐसी अवस्था को देख कह देते हैं अमुक को बिना गुरु के ही तत्त्व का साक्षात्कार हो गया किन्तु यह भूल धारणा है । बिना किसी तत्त्वदर्शी गुरु के कभी यह आत्मतत्त्व अवगत नहीं होता । यह आत्मतत्त्व इतना सरल नहीं है कि स्वयंशास्त्र पढ़कर इसे जान लें या किसी भी अल्पज्ञ के द्वारा उपदेश ग्रहण कर जान सकें । भले कितना ही कठिन परिश्रम, साधन क्यों न करलें बिना तत्त्वदर्शी महापुरुष की कृपा के आत्मज्ञान उदय नहीं होता, चाहे वह इस जन्म में ग्रहण किया हो या इसके पूर्व जन्म में कर चूके हों । यह बात अलग है कि प्रतिबन्ध के कारण आपको तत्त्वदर्शी के मिलने पर भी ज्ञान उत्पन्न न हुआ हो पर इस जन्म में जो ज्ञान आप बिना गुरु के उदय होते देख रहे हैं वह पूर्व जन्म के उपदेश एवं अभ्यास का ही फल है ।

तात्पर्य यह है कि प्रतिबन्ध होने से ही वेदार्थ का ज्ञाता भी मुक्त नहीं हो पाते । छान्दोग्य उपनिषद के अष्टम अध्याय के तीसरे खण्ड के दूसरे मंत्र में दर्शाया है कि जिस प्रकार पृथ्वी में गड़े हुए स्वर्ण के खजाने को न

जाननेवाला पुरुष उस स्थान पर रात-दिन रहने पर भी भिखारी बना रहता है, इसी प्रकार ये सारी प्रजा नित्यप्रति ब्रह्म के साथ विचरती हुई वासना के कारण ब्रह्म को नहीं जान पाती । किन्ही-किन्ही का तो यह तत्त्व विचार भी पाप कर्म के कारण ही रूक जाता है । इस में कठोपनिषद का प्रमाण है -

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः

- २/७

परमतत्त्व बहुत से पापियों को तो सुनने को भी नहीं मिलता ।

प्रश्न - १३८ : भूत (अतीत) भावी (आगामी) तथा वर्तमान प्रतिबन्ध में क्या उदाहरण है ?

उत्तर : भूत याने बीते काल का प्रतिबन्ध का उदाहरण एक लोक प्रसिद्ध कहानी से जान सकते हैं ।

गाथा यह है कि किसी गृहस्थ को अपनी भैंस के प्रति बहुत स्नेह था । (आप भैंस की जगह अन्य धन, पुत्र, स्त्री, पति आदि भी समझ सकते हैं) जब वह संन्यासी हुआ तो वेदान्त का श्रवण करने पर भी उसे महिषी के स्नेह से उत्पन्न हुए राग प्रतिबन्ध के कारण गुरु की बात श्रवण करने पर भी समझ में नहीं आती थी । तो गुरु ने जब यह उससे मालूम किया कि महिषी में इसका अनुराग है और इसी कारण यह तत्त्व का निश्चय नहीं कर पाता तो उस सन्यासी को महिषी उपाधिक ब्रह्म का उपदेश दिया । तब उस महिषी स्नेह रूपी प्रतिबन्ध के हट जाने पर ही वह सन्यासी ठीक रूप से तत्त्व को जान सका ।

एक श्रोता कथा में बहुत ही ध्यान से वक्ता की ओर दृष्टि कर रोता रोता कथा श्रवण करता था । एक दिन महात्मा ने पूछा कि भाई तुम इतने क्यों रोते हो । हम तो सारे जीवन भागवत पढ़ते आये पर तुम्हारी तरह प्रभु के प्रति प्रेम जाग्रत नहीं हो पाया । और वह सन्त उस श्रोता के चरण पकड़ कर लेट गया व कहा बताओ तुम्हें क्या दीखता है, तो उसने कहा महाराज मुझे

तो आपकी दाढ़ी देख अपने मृतक बकरे का ही बारम्बार स्मरण हो आता है और उसके स्नेह में मेरा मन रो पड़ता है । इस प्रकार के भूत प्रतिबन्ध से साधक श्रवण करते हुए भी निश्चय नहीं कर पाते ।

वर्तमान प्रतिबन्ध का एक रूप तो विषयों में चित्त की आसक्ति का है, दूसरा स्त्री या पति का विरोध, तीसरा दरिद्रता, चौथा महारोग, पाँचवा दुष्ट संतान, छठा बुद्धि की मन्दता, सातवाँ कुतर्क याने शास्त्र का अपनी बुद्धि से उल्टा अर्थ लगाना, आठवाँ संत व शास्त्र पर अश्रद्धा और नवाँ विपरीत ज्ञान अर्थात् आत्मा को कर्ता-भोक्ता मानना आदि इन कारणों में से किसी एक के रहने पर भी ज्ञानोदय नहीं होता है ।

शम, दम, तितिक्षा, श्रद्धा, ऊपरति तथा श्रवण, मनन आदि साधनों में जो जहाँ जिस प्रतिबन्ध के निवारणार्थ उपयोगी हो वहाँ उससे इस वर्तमान प्रतिबन्ध को हटा देने पर इस प्रतिबन्ध के हटते ही मुमुक्षु प्रत्यगात्मा के ब्रह्म भाव को पा लेता है । अर्थात् अपने आत्मा को ब्रह्म रूप जान लेता है ।

आगामी प्रतिबन्ध वामदेव के प्रति बताया है । जन्मान्तर दिलानेवाला प्रारब्ध शेष आगामी प्रतिबन्ध कहलाता है । यह भोग बिना निवृत्त नहीं होता । वामदेव, नारद, प्रहलाद, ज्ञानदेव का प्रारब्ध भोग शेष एक जन्म में और भरत का तीन जन्मों (नृप, भरत, जड़ भरत) में क्षीण हो पाया था ।

जो लोग तत्त्व का साक्षात्कार होने के पहले ही विचार अभ्यास बीच में ही छोड़ देते हैं उनके प्रतिबन्ध का विनाश बहुत जन्म बीतने पर होता है, परन्तु फिर भी उसका पूर्व जन्म में किया तत्त्व विचार निष्फल नहीं होता, क्योंकि प्रतिबन्ध की निवृत्ति होते ही उसका विचार का फल अपरोक्ष ज्ञान के रूप में मिल जायेगा ।

बात यह है कि किसी-किसी कर्म के कारण मनुष्य को अनेक जन्म भोगने पड़ते हैं । जैसे ब्रह्म हत्या से कुत्ता, सर्प, भेड़ आदि दश जन्म होते हैं । इस प्रकार अनेक जन्म का हेतु कोई कोई कर्म प्रारब्ध फल का आरंभक

होता है वही आगामी प्रतिबन्धक है । इसके रहते हुए श्रवणादि ज्ञान साधनों से भी ज्ञानोदय नहीं होता, क्योंकि प्रारब्ध बिना भोग के क्षय नहीं होता है और प्रारब्ध समाप्त हाते ही अन्तिम जन्म में ही ज्ञान होता है और ज्ञान से ही मोक्ष होता है । ऐसा नहीं होता कि ज्ञान हो गया इस जन्म में व आगामी प्रतिबन्ध क्षीण होने पर मोक्ष होगा । ज्ञान होता ही तब है जब उसका शेष (अन्तिम) जन्म होता है । गीता स्मृति का वचन प्रमाण है : -

"**बहूनां जन्मनामन्ते**"

जन्मों के अन्त के जन्म में ही यह आत्मज्ञान वासुदेव रूप जगत् का बोध हो पाता है ।

प्रश्न - १३९ : योग भ्रष्ट पुरुष प्रारब्ध प्रतिबन्धक के कारण अपने ज्ञान से विचलित होता है या नहीं ?

उत्तर : इस सम्बन्ध में गीता के छठे अध्याय के ४१ श्लोक से ४५ श्लोक तक का अभिप्राय इस प्रकार है ।

योग भ्रष्ट पुरुष आत्मतत्त्व के विचार के बल से ही पुण्य कारियों के लोक विशेष, स्वर्ग को प्राप्त होकर वहाँ भोगने के पश्चात् भी यदि उसकी भोग की कामना बनी रही तो यहाँ इस लोक में शुद्ध श्रीमान् माता-पिता के कुल में जन्म लेता है । अथवा वैराग्य के संस्कार जाग्रत हो गये हैं तो ब्रह्म तत्त्व के विचार के प्रभाव से ही श्रीमान् आत्मतत्त्व के निश्चयी योगियों के कुल में जन्म लेता है । पर यह योगी कुल में जन्म थोड़े पुण्य करने वाले को प्राप्त नहीं होता । इस कारण यह योगी कुल में जन्म सबको दुर्लभ है, क्योंकि योगी कुल में जन्म होने पर वह योग भ्रष्ट पहले देह वाली बुद्धि को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है । याने तत्त्वविचार करने वाली पहले जन्म की बुद्धि उसे शीघ्र मिल जाती है । और वह वहाँ पहले किये प्रयत्न से भी अधिक प्रयत्न करने लगता है । उसका कारण यह है कि पूर्वाभ्यास उसे बल पूर्वक 'गौतम बुद्ध' की तरह अपनी ओर खींच लेता है । इस प्रकार आगामी प्रतिबन्ध हटते ही

मुक्ति को प्राप्त कर लेता है । किन्तु उसका किसी प्रकार पतन नहीं होता है । यदि ब्रह्म लोक की प्राप्ति की इच्छा को लेकर आत्म विचार करेगा तो उसे ब्रह्म लोक ही प्राप्त होगा मोक्ष नहीं । किन्तु भली प्रकार से वेदान्त के ज्ञान को निश्चय किये शुद्ध अन्तःकरण हुए अन्त समय में ब्रह्म लोक में सब मुक्त हो जाते हैं । बिना तत्त्व ज्ञान के कहीं भी मुक्ति नहीं है ।

प्रश्न -१४० : ब्रह्म तो मन वाणी का अविषय है फिर उसकी मन्द ज्ञानी किस प्रकार उपासना कर सकेगा ?

उत्तर : ब्रह्म मन वाणी का विषय नहीं है वह निराकार है । इस प्रकार का निश्चय ही तो उपासना का स्वरूप बन जायेगा । अतः वह इसी प्रकार ही विचार करे । इसी उपासना के सम्बन्ध में केनोपनिषद् में कहा है -

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

- १/५

जिसको मन बुद्धि से कोई भी नही समझ सकता बल्कि जिससे मन बुद्धि जाने जाते हैं उसको ही ब्रह्म जानो । उसी की उपासना करो । जगत् में जिसे ब्रह्म मान उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है । इस प्रकार ही उस निर्गुण ब्रह्म की उपासना की जा सकती है ।

प्रश्न - १४१ : साधक उपासना कब तक करे ?

उत्तर : अपने इष्ट का चिन्तन करते-करते उस इष्ट के स्वरूप का अपने में अभिमान न हो अर्थात् ''वह ब्रह्म मैं हूँ'' यह बुद्धि जब तक उदय न हो तब तक करता रहे । अपने उपास्य तत्त्व के चिन्तन में अन्य विजातीय जगत् के विचारों को न आने देकर निरंतर उपास्य की अहंग्रह रूप से याने वह उपास्य ''ब्रह्म मैं हूँ'' इस प्रकार उपासना करे । यही उपासना का स्वरूप है एवं चिन्तन की अवधि है ।

जब तक उपासक को अपने से उपास्य देव पृथक् प्रतीत होते हैं तब तक उसकी भक्ति दूषित, व्यभिचारी ही होती है । भक्ति का परम फल इष्टाकार अपने को करने में है जिसे 'आत्म निवेदन' भी कहते हैं और मरण पर्यन्त यही धारणा बनाये रखे ।

प्रश्न - १४२ : ज्ञान और उपासना में क्या भेद है ?

उत्तर : ज्ञान तो ज्ञेय वस्तु के अधीन होता है । और उपासना कर्ता के अधीन होती है । वस्तु तत्त्व के विचार से ज्ञान उत्पन्न होता है । प्रमाण एवं प्रमेय के एक देश में आते ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है । फिर उस उत्पन्न ज्ञान को 'मुझे यह ज्ञान न हो' यह अनिच्छा भी रोक नहीं सकती । जैसे घट रूप प्रमेय का नेत्र रूप प्रमाण के संयोग होते ही यह घट है ज्ञान बरबस हो जाता है । इसी प्रकार उत्पन्न ज्ञान जगत् की सारी सत्यता को नष्ट कर देता है । और वह जीवनमुक्त अवस्था का लाभकर प्रारब्ध क्षय की प्रतिक्षा करने लगता है । प्रारब्ध क्षय होते ही विदेह मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

किन्तु उपासना तो पुरुष की अपनी इच्छानुसार ही हो सकती है । वह उलट पुलट कर अन्यथा रूप भी कर सकता है अथवा न भी करे । इसलिये इच्छा अधीन होने से उसे नित्य ही करनी होती है ।

जैसे सदा सावधान जपकर्ता और वेद अध्यायी उस उस वासना से युक्त हुआ स्वप्न में भी वही उच्चारण अनुष्ठान करता हुआ प्रतीत होता है । इसी प्रकार की दृढ़ उपासना साधक को भी करनी चाहिये, ताकि स्वप्न में भी उसे अपने इष्ट का ही ध्यान बनने लग जावे, किन्तु कोई भी ज्ञान शास्त्र विधान पुरुषों की इच्छा, उसके हठ और श्रद्धा विश्वास के पीछे नहीं चलता बल्कि वह प्रमाण एवं प्रमेय के अधीन होने से स्वतन्त्र है । परन्तु उपासना तो (१) विधि, (२) कर्ता की इच्छा, (३) हठ, (४) विश्वास के अधीन है, क्योंकि शास्त्र विधि के अनुसार ही उपासना फल देती है, मनगढ़न्त उपासना से उचित फल नहीं मिलता । (२) उपासना में कर्ता की इच्छा की अधीनता

तो स्पष्ट ही है । वह चाहेगा तभी होगी अन्यथा नहीं होगी । (३) बर्हिमुख साधक को उपासना के लिये हठ का आश्रय तो लेना ही पड़ता है । (४) विष्णु के चतुर्भुज आदि चिह्न न होने पर भी प्रत्यक्ष में पाषाण शालीग्राम को विष्णु समझ कर उपासना करना विश्वास के अधीन है ।

इसी प्रकार ध्याननिष्ठ पुरुष तो लोक व्यवहार करने में डरता है, संकुचित होकर आवश्यक कार्य थोड़ा बहुत करता है, परन्तु तत्त्वज्ञानी तो लौकिक व्यवहार और तत्त्वज्ञान के परस्पर विरोध न होने के कारण भली भाँति निभाता रहता है ।

प्रश्न - १४३ : तत्त्वज्ञानी को लोक व्यवहार से विरोध क्यों नहीं होता ?

उत्तर : तत्त्वज्ञानी यह सम्यक प्रकार से जान गया है कि यह संसार दृश्यमान जगत् मिथ्या है और मेरा अपना आत्मा चैतन्य सत्य आनन्द रूप है । तब मिथ्या जगत् का व्यवहार मुझ सच्चिदानन्द आत्मा का किस प्रकार विरोधी हो सकेगा ? अर्थात् उसका कोई विरोध नहीं है । बात यह है कि लोक व्यवहार के लिये न तो जगत् की सत्यता की अपेक्षा है और न आत्मा की जड़ता की जरूरत है । लोक व्यवहार के लिये तो उपयोगी साधनों का होना आवश्यक है ।

मन, वाणी, शरीर और इनसे बाह्य घर, खेत आदि पदार्थ, लौकिक व्यवहार के साधन हैं । तत्त्वज्ञानी इनका नाश नहीं करता । इसलिये राज्य, खेती, व्यापार आदि व्यवहार वह भली भाँति कर सकता है । जो चित्त को रोकता है वह अभी साधक उपासक ही है तत्त्वज्ञानी नहीं है ।

प्रश्न - १४४ : क्या तत्त्ववेत्ता को चित्त के रोकने की आवश्यकता नहीं होती ?

उत्तर : एक बार भली प्रकार से जाना गया बुद्धि के द्वारा घट समय पर घट का उपयोग कर ही लेता है । उसे घटाकार वृत्ति निरंतर बनाकर रखने की

जरूरत नहीं पड़ती । जब एक बार के ज्ञान से ही परप्रकाश्य घट जैसी जड़ वस्तु सदा प्रतीत होती रहती है तब स्वप्रकाश रूप यह आत्मा जो घट से कहीं अधिक स्पष्ट है । वह भला सदा क्यों नहीं भासेगा ? अवश्य ही भासित होता रहेगा । अतएव आत्मा के ज्ञान में चित्त निरोध का कष्ट उपासकों की तरह ज्ञानियों को नहीं उठाना पड़ता ।

जिस प्रकार एक बार उत्पन्न घटाकार वृत्ति का नाश होने पर भी घट ज्ञान का नाश नहीं होता । उसी प्रकार एक बार भली प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति के उत्पन्न होने पर वह सदा न रहने पर भी अपने आत्मा का ब्रह्म रूप से उदय ज्ञान नष्ट नहीं होता । तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञानी को सम्यक् ज्ञान हो जाने के बाद अपने चित्त को स्थिर रखने की आवश्यकता नही है । क्योंकि तत्त्वज्ञानी ने जब एक बार आत्मा को निश्चय करके जाना है तब पीछे जब भी उसे आवश्यकता होती है, अपने आत्मा का कथन, मनन, ध्यानादि कर सकता है । जिस प्रकार एकबार भली प्रकार जाने घट की घटाकार वृत्ति के नष्ट हो जाने पर भी क्षणिक होने से बाद में भी घट का लाना ले जाना उपयोग होता ही है ।

यदि तत्त्वज्ञानी, उपासक के समान ध्यान करता-करता लौकिक अर्थात् जगत् अनुसंधान को भूलता है तो उसका यह विस्मरण ध्यान की प्रबलता का फल है । ज्ञान से जगत् भूलाया नहीं जाता, क्योंकि उसका कोई विरोध नहीं है । ध्यान तो तत्त्वज्ञानी की इच्छा पर निर्भर है । क्योंकि मुक्ति की प्राप्ति तो केवल ज्ञान से ही हो जाती है । शास्त्र की यह घोषणा है -

''ज्ञानदेव तु कैवल्यं इति शास्त्रेषु डिंडिमः''

तत्त्वज्ञानी ध्यान नहीं करेगा तो बाहर प्रवृत्ति करेगा । यदि यह शंका होती हो तो उसका समाधान यह है कि भले वह प्रवृत्ति करे इसकी प्रवृत्ति में भी कोई क्षति नहीं व निवृत्ति में उसे कोई लाभ नहीं ।

प्रश्न - १४५ : तत्त्वज्ञानी का जीवन निरंकुश मानेंगे तो शास्त्रों में

विधि-निषेध का जो वर्णन है, उसका फिर विरोध होगा या नहीं ?

उत्तर : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि वर्ण, गृहस्थ आदि आश्रम बाल, युवा आदि आयु, और स्थिति की दशा रूप अवस्थाओं का अभिमान जिस पुरुष को है उसके लिये ही शास्त्र के सब विधि और निषेध हैं और तत्त्वज्ञानी तो यह भली भाँति जानता है कि अज्ञान से कल्पित देह में जाति, नाम, रूप, आश्रम, सम्बन्ध, परिणाम, जन्म-मृत्यु आदि धर्म हैं । वे मुझ बोध रूप आत्मा के धर्म नहीं है ।

शास्त्र भी कहता है कि जिस पुरुष ने हृदय से सब आसक्तियों को छोड़ दिया है और इस कारण जो निर्मल ज्ञान युक्त है, वह महापुरुष मुक्त है । समाधि और कर्मों को चाहे न करे या करे दोनों समान है । गीता स्मृति भी कहती है -

"तस्य कार्यं न विद्यते" ३/१७

आत्म ज्ञानी के लिये कोई कर्त्तव्य नहीं है । आगे फिर कहा है -

"नैव तस्य कृतेनार्थों नाकृतेनेह कश्चन"

- गीता : ३/१८

इस संसार में उस पुरुष का न तो किये जाने से भी कोई प्रयोजन है और न किये से भी कोई प्रयोजन नहीं है ।

जिसके मन वासनाओं से रहित हो गया है उसे न तो कर्म के त्याग की आवश्यकता है, न कर्म करते रहने की, न उसे जप से प्रयोजन है, न उसे उपासना से, क्योंकि आत्मा सजातीय, विजातीय स्वगत भेद से रहित है । उससे भिन्न सब कुछ इन्द्रजाल रूप जगत् मिथ्या है, ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेने के पश्चात् मन में वासना ही कैसे होगी ? जब वासना ही नहीं तो उसको हटाने के लिये ध्यान की भी आवश्यकता नहीं । रोग निवृत्ति हेतु औषध सेवन विधि है, रोग निवृत्ति में औषध सेवन विधि नहीं है ।

लोक में जैसे बालक के लिये विधि शास्त्र रूप प्रसंग नहीं होता, क्योंकि वह कुछ नहीं जानता है और ज्ञानी सब कुछ जानता है इसलिये उसके लिये भी विधि शास्त्र नहीं है । वास्तविक बात तो यह है कि सब विधियाँ आज्ञाएँ अल्पज्ञ पुरुष के लिये ही है । अज्ञ या सर्वज्ञ के लिये कोई विधि नहीं है ।

प्रश्न - १४६ : क्या जिसमें शाप देने अथवा अनुग्रह करने की शक्ति हो वही तत्त्वज्ञानी है ?

उत्तर : शाप देना अथवा कृपा करना तत्त्वज्ञान का फल नहीं है । शापादि सामर्थ्य तो तप का फल है, सिद्धि का फल है, ज्ञान का नहीं । दुर्वासा, व्यास आदि में जो शापादि सामर्थ्य था वह भी उनका तपोबल था । और जिस तप से शाप देने व अनुग्रह करने की शक्ति प्राप्त होती है उस तप से आत्मज्ञान उदय नहीं होता है । शापादि के जनक तप से भिन्न दूसरा तप ज्ञान का कारण होता है ।

"तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व"

इस श्रुति में ज्ञान के हेतु साधन चतुष्टय तथा श्रवण, मननादि तप का निर्देश है । अतः जिन्होंने दोनों प्रकार का तप किया है उसमें सामर्थ्य और ज्ञान दोनों है । जिन्होंने एक किया है उसे एक ही फल मिलेगा । यदि शापादि सामर्थ्य से रहित तत्त्वज्ञानी की अज्ञानी जन निंदा करे तो भले करे इसमें ज्ञानी की कोई हानि नहीं होती ।

वास्तव में तो ज्ञान केवल ब्रह्म का बोध कराने वाला है । वह नित्य ब्रह्मत्व को उत्पन्न नहीं कराता । यदि ब्रह्म ज्ञान से उत्पन्न होता तो ज्ञान के नाश होने पर ब्रह्मत्व भी लय को प्राप्त हो जाता है इससे ज्ञानजन्य ब्रह्मत्व नहीं है ।

दूसरी बात यह है कि शापादि सामर्थ्य अन्तःकरण का धर्म है । ज्ञानी अन्तःकरण को स्वरूप से मिथ्या जानता है इसलिये उसकी किसी वृत्ति या

स्थिति में उसका आग्रह नहीं होता है, क्योंकि अज्ञान का कार्य अन्तःकरण है और अन्तःकरण व उसके धर्म में जो आसक्त है वह तत्त्वज्ञानी भी नहीं है । इसलिये ज्ञानी सिद्धि चमत्कार को आत्मज्ञान के समक्ष तुच्छ जान उसे प्राप्त करने में समय नष्ट नहीं करना चाहते ।

प्रश्न - १४७ : निर्गुणोंपासक की ध्यान द्वारा सम्पादित ब्रह्मता परमार्थिक होती है या नहीं ?

उत्तर : जैसे ध्यान से सम्पादित सगुण उपासक की विष्णु, शंकर, राम, कृष्णादि ब्रह्मता परमार्थिक नहीं है । उसी प्रकार निर्गुण उपासक की ब्रह्मता भी परमार्थिक नहीं है । उपासक के ब्रह्मत्व से भी मोक्ष नहीं मिलता, फिर भी उपवास से भिक्षा करना जैसे श्रेष्ठ है वैसे अन्य साधनों की अपेक्षा उपासना श्रेष्ठ है । पामरों के खेती आदि व्यवहार से कर्मानुष्ठान श्रेष्ठ है । कर्मानुष्ठान से सगुणोपासना श्रेष्ठ है और सगुणोपासना से निर्गुणोपासना श्रेष्ठ है । ज्यों-ज्यों विज्ञान की समीपता आती जाती है वैसे-वैसे श्रेष्ठता बढ़ती जाती है । निर्गुणोपासना तो धीरे-धीरे ब्रह्मज्ञान में निदिध्यासन रूप होकर वाक्य जन्य अपरोक्ष ज्ञान का कारण बन जाती है । मूर्तिध्यान मंत्रादि भी चित्त की एकाग्रता के सम्पादक होने से अपरोक्ष ज्ञान के साधन बनते हैं, किन्तु निर्गुण उपासना में ज्ञान की अधिक समीपता पायी जाती है और उपासना अतिपाक होने के कारण मुक्ति काल में ''ब्रह्मज्ञान'' बन जाती है ।

जब यह निर्गुणोपासना पक जाती है तब सविकल्प समाधि हो जाती है, फिर सविकल्प समाधि से निरोध नाम की समाधि लाभ हो जाने से पुरुष के भीतर असंग वस्तु शेष रह जाती है और इस असंग वस्तु की बार-बार भावना करने पर ''तत्त्वमसि'' आदि वाक्यों से ''अहं ब्रह्मास्मि'' रूप तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है ।

जो जिज्ञासु निर्गुणोपासना की उपेक्षा करके तीर्थ यात्रा, जप, सगुण पूजा, पाठ आदि में लग जाते हैं उन लोगों की तो वही अवस्था है जो हाथ में

आये ग्रास को छोड़कर हाथ चाटने वाली की होती है और आत्मतत्त्व विचार छोड़कर निर्गुणोपासना में लगने वालों की अवस्था भी ऐसी ही है जैसे कोई रसगुल्ला खातेहुए गुड़ का स्वाद लेने लग जाता है । इसीलिये विचार के असमर्थ जिज्ञासुओं के लिये योग का विधान है, क्योंकि अत्यन्त व्याकुल चित्तवालों को विचार से तत्त्वज्ञान नहीं होता । इसलिये उनके लिये योग (उपासना) मुख्य उपाय बताया है । उपासना से बुद्धि का मैल जल जाता है, बुद्धि सूक्ष्म हो जाती है । फिर वह तत्त्वज्ञान के लिये समर्थ हो जाती है ।

किन्तु शान्त चित्त वाले मुमुक्षु लोगों के लिये जिन्हें केवल एक अज्ञान ही शेष रहा है याने जिनका आत्मा केवल मोह के आवरण में छिपा रहा है, और जिनका मल दोष तथा विक्षेप दोष कर्म तथा उपासना द्वारा पूर्व ही निवृत्त हो चुका है उनको सांख्य नाम का तत्त्व विचार ही मुख्य उपाय है । उनको वही शीघ्र ज्ञान रूप सिद्धि प्रदान करने वाला है । योग (उपासना) और सांख्य (तत्त्वविचार) दोनों ही तत्त्वज्ञान द्वारा मुक्ति के साधन हैं । गीता स्मृति कहती है -

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपिगम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

- गीता : ५/५

अर्थात सांख्य योगी (तत्त्व विचारक) जिस मुक्ति को पाते हैं, योगमार्गी (उपासक) भी बुद्धि की शुद्धि के पश्चात् तत्त्व ज्ञान द्वारा उसी मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं । जो ज्ञानी उपासना एवं तत्त्वविचार प्रक्रियाओं को एक सा समझता है वही शास्त्र के तात्पर्य को ठीक ठीक जानता है । उपासना के सामर्थ्य से ज्ञान की उत्पत्ति होती है । अतः उपासना ज्ञान का सहायक अंग होने से ज्ञान से भिन्न विरोधी नहीं है और फिर यह उपासना भी तो अहंग्रह उपासना होती है जिसमें उपासक स्वयं उपास्य का अभिमान अपने में धारण कर के चिन्तन करता है । निर्गुण ब्रह्म की उपासना द्वारा प्राप्ति और

ज्ञान द्वारा मोक्ष एक ही के दो नाम है । मुक्ति का लक्षण ही स्वरूप से अवस्थिति है ।

आत्म गीता में कहा है - यदि साक्षात्कार करने में असमर्थ भी हो तो भी शंका रहित हो मुझ प्रत्यक् अभिन्न परमात्मा का चिन्तन करे । समय आने पर अनुभव प्राप्त कर वह निश्चय ही पूर्ण फल को प्राप्त करेगा ।

प्रश्न - १४८ : ध्यान तत्त्व ज्ञान का उपाय है इसमें क्या दृष्टान्त है ?

उत्तर : जैसे भूमि में गड़े अगाध खजाने को प्राप्त करने के लिये खोदे बिना काम नहीं चलता है वैसे ही मुक्ति प्राप्त करने के लिये भी स्वात्मा के ध्यान के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है । देह रूप पत्थर को दूर करके बुद्धि रूप कुदाली से मन रूप भूमि को खोद कर मनुष्य अपने प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म रूप निधि को प्राप्त करे अर्थात् जाने । यदि अनुभूति न हो तो भी मन्द बुद्धि वाला ''मैं ब्रह्म हूँ'' ऐसे ही विचार करे जब उपासक में पहले से अविद्यमान देवत्व गुण आदि भी ध्यान द्वारा प्राप्त हो जाते हैं । तब फिर नित्य प्राप्त ब्रह्म यदि ध्यान से प्राप्त हो जाये तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

ध्यान करने से दिन पर दिन अनात्म बुद्धि ढ़ीली होती जाती है । यह फल देख कर भी जो ध्यान (उपासना) न करे तो उस मन्द बुद्धि वाले को मोक्ष प्राप्ति का अन्य साधन भी प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि तत्त्वविचार जो मोक्ष का साक्षात् साधन है उसमें तो उसकी बुद्धि की मन्दता के कारण गति ही नहीं है । अतः ध्यान से देहाभिमान को नष्ट करके अर्थात् मरणशील देह को मैं समझना छोड़कर अपने आपको अद्वितीय जानकर मरण धर्मा मनुष्य अमृत होकर इसी शरीर में अपने निज रूप सच्चिदानन्द ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है । उसके प्राण अन्य लोक में अथवा अन्य देह में उत्क्रमण नहीं करते । वे यहाँ इस लोक सम्बन्धी देह में ही विलीन हो जाते हैं, क्योंकि वह उपासक अकाम और निष्काम् अर्थात् अन्तर बाहर कामना से रहित आप्तकाम एवं आत्मकाम हो जाता है । वह ब्रह्म हुआ ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है । वह

अशरीर, अनिन्द्रिय, अप्राण, अमन केवल सच्चिदानन्द और स्वयं प्रकाश हो जाता है । वह अभय अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है । ऐसा तापनीयोपनिषद् में निर्गुण उपासना का फल मोक्ष बताया है ।

प्रश्न - १४९ : वेदान्त शास्त्र में साक्षी किसे कहा हैं ?

उत्तर : जो चैतन्य रूप, अहंकार रूप कर्ता को अहं इदं (मैं यह) इन दो वृत्ति रूपी क्रिया और परस्पर भिन्न पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श आदि विषयों को साथ-साथ प्रकाशित करे । उसी चित्त स्वरूप को वेदान्त शास्त्र में साक्षी कहते हैं । जैसे घर में रखा दीपक सब को एकसाथ प्रकाशित करता है इसी प्रकार साक्षी मैं रूप को देखता हूँ, मैं शब्द को सुनता हूँ, मैं गन्ध को सूंघता हूँ, मैं रस को चखता हूँ, मैं देह को छूता हूँ आदि प्रकार से द्रष्टा, दर्शन और दृश्य तीनों को एकसाथ प्रकाशित करता है ।

जैसे घर में रखा दीपक आनेवाले मित्र एवं घर के लोगों को बिना भेद भाव के प्रकाशित करता है और उन सब के चले जाने पर भी उनके अभाव को उसी प्रकार प्रकाशित करता हुआ स्वयं प्रकाशित होता रहता है । ऐसे ही साक्षी अहंकार, बुद्धि, मन और विषयों को भी समान रूप से प्रकाशित किया करता है और सुषुप्ति आदि के समय अहंकार आदि के न रहने पर भी स्वयं प्रकाशित होता रहता है । उसी के प्रकाश से प्रकाशित बुद्धि नाना घट, पट आदि में विकृत हुआ करती है ।

प्रश्न - १५० : क्या अहंकार आदि का प्रकाशक साक्षी आत्मा उस उस विषय के सम्बन्ध से विकृत नहीं होता ?

उत्तर : जैसे दीपक आपने स्थान पर रखा हुआ आने जाने रूप विकार रहित हुआ अपने समीपस्थ चारों ओर के पदार्थों को प्रकाशित करता है, ऐसे ही स्थिर अर्थात् तीनों कालों में अचल साक्षी भी बाहर भीतर प्रकाशित करता रहता है । वास्तव में तो साक्षी की दृष्टि से भीतर-बाहर कुछ नहीं है । बाहर-भीतर बिभाग तो देह रूप दीवाल ही खड़ा करती है ।

देह के भीतर स्थित बुद्धि ही शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों के ग्रहण करने के लिये, श्रोत्र, त्वचा, चक्षु आदि के द्वारा बारम्बार बाहर भीतर होती रहती है । इस प्रकार उस बुद्धि में जो चंचलता है वह उस बुद्धि के अवभासक साक्षी में वृथा ही मूर्ख लोग आरोपित कर देते हैं । परन्तु साक्षी वस्तुतः चंचल अथवा बाहर-भीतर आने-जाने वाले धर्मों से पृथक् है । जैसे झरोखे से भीतर गया हुआ सूर्य का थोड़ा सा प्रकाश यद्यपि स्वतः अचल है परन्तु उस प्रकाश में हाथ के नचाने पर वह प्रकाश नाचता प्रतीत होता है, वस्तुतः नाचता नहीं है । अथवा ट्रेन, मोटर या नाव द्वारा यात्रा करने पर आसपास के स्थित अचल दृश्य भी यात्री को चल ही प्रतीत होते हैं । इसी प्रकार अपने स्थान अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित साक्षी बाहर-भीतर गमनागमन न करता हुआ भी बुद्धि मनादि की चंचलता से वैसे-वैसे करता हुआ अज्ञानी को प्रतीत होता है । साक्षी तो बाह्य-भीतर भेद से रहित है, क्योंकि ये दोनों देश तो बुद्धि के कल्पित है । इन्द्रिय, मन, बुद्धि के शान्त हो जाने पर, मन की प्रतीति का अभाव हो जाने पर सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में वह साक्षी जहाँ स्वस्वरूप में भासता है वहाँ वह है ।

यदि कोई भी देश न भासित हो तो आत्मा को बिना देश ही का समझ लेने में भी कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि देश आदि की कल्पनाओं के अधिष्ठान आत्मा को अपने लिये किसी देश की अपेक्षा नहीं है । शास्त्रों में उसे जो सर्वगतहः कहा है वह सर्वदेश की कल्पना से ही आरोपित किया है स्वतः नहीं । अर्थात् अद्वितीय और असंग होने से उसका यह स्वाभाविक धर्म नहीं है । स्वभाव से तो यह अद्वितीय और असंग ही है ।

अन्तः या वबहिर्देश को या जिस किसी भी वस्तु की यह बुद्धि कल्पना कर लेती है । यह आत्मा उस देश (वस्तु) में स्थित साक्षी कहलाने लगता है । वस्तुतः तो उसका सर्व साक्षीपन भी मिथ्या है ।

प्रश्न - १५१ : फिर उस अवाङ्मानसगोचर आत्मा को कैसे ग्रहण

करें ?

उत्तर : तुम उसको ग्रहण करो ही मत, आत्मा तो अग्राह्य ही है। साक्षी रूप से ही उसे जानने का मार्ग है । स्वात्मा से भिन्न द्वैत के मिथ्यापन का निश्चय हो जाने पर जब द्वैत की प्रतीति नष्ट हो जाती है तब स्वात्मा ही शेष रह जाता है। उसको शेष रखने में कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जैसे अग्नि के शान्त हो जाने पर राख स्वयं शेष रह जाती है, उसको शेष रखने के लिये कोई पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं रहती । ऐसे ही स्वात्मा के प्रत्यक्ष करने के लिये किसी प्रमाण की अपेक्षा है, क्योकि वह स्वयं ही सबके प्रमाण स्वरूप शेष रह जाता है। वह स्वयं स्वप्रकाश स्वरूप है, इसलिये उसके प्रत्यक्ष के लिये किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। मैं हूँ इस ज्ञान में भला किस प्रमाण की जरूरत होगी ? मैं तो स्वतः सिद्ध ही हूँ। सब प्रमाणों को प्रमाणित करने वाला भला मैं किस प्रमाण से प्रमाणित हो सकुँगा ? अर्थात् स्वयं प्रकाश आत्मा को प्रमाण की जरूरत नहीं। केवल इस प्रकार का दृढ़ ज्ञान होने मात्र की ही जरूरत है और वह दृढ़ ज्ञान ब्रह्मनिष्ठ गुरु के मुख से श्रुति का पठन करने से ही उदय होता है अन्य साधन से नहीं ।

साक्षी आत्मा नित्य ज्ञान स्वरूप होने के कारण स्वयं ही अनुभूति स्वरूप है । इसलिये आत्मा किसी का अनुभाव्य नहीं होता । क्योंकि पंचकोशों का साक्षी आत्मा अन्य का विषय नहीं जो उसे अनुभव कर सके। इसी को श्रुति प्रमाणित कर कहती है -

येनेदँ सर्व विजानीयात तं केन विजानीयाद्विज्ञाता रमरे केन विजानीयादिति ।

- वृह. उप. २/४/१४

अर्थात् जिससे सब कुछ जाना जाता है उस साक्षी आत्मा को भला किस अन्य साक्षी आत्मा से जानेंगे ? क्योंकि साक्षी तो एक ही है उसको भला किस प्रकार जान सकेंगे ? अर्थात् नहीं जान सकते ।

प्रश्न - १५२ : मानव जीवन की विशेषता किस कारण से कही जाती है ?

उत्तर : यत्तु मनुष्यः कुरुते तन्न शक्यं सुरासुरैः

आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन इन चारों प्रकार की प्रवृत्ति देख कर तो निश्चय नहीं किया जा सकता है कि कौन मनुष्य तथा कौन पशु ? दोनों में समानता पायी जाती है, क्योंकि दोनों जीव है, दोनों में आत्मा भी है, यदि कोई भेद है तो वह यह कि मनुष्य में ज्ञान विशेष है । जिसके कारण वह पशु से श्रेष्ठ है तथा जिसमें विशेष ज्ञान नहीं है वह पशु समान ही है । वह विशेष ज्ञान कोई इंगलेन्ड, आमेरीका की विद्या प्राप्त करने का नाम नहीं, कोई डॉक्टर, इन्जिनियर, वैरिष्टर बनने का नाम नहीं है बल्कि ज्ञान इसमें है कि वह सर्वत्र व्यापक ब्रह्म तत्त्व के साथ अपनी आत्मा की एकता का अनुभव करने में है । अर्थात् अपनी आत्म को सर्वत्र व्यापक रूप अनुभव करना ही ज्ञान है । यह अनुभव पशुओं को नहीं हो सकता । उनको भेद दृष्टि बनी रहती है । वे आत्मा को सर्वमय नहीं जान सकते । वे सब क्रिया खाने, पीने, सोने, मैथुनादि की करते हैं, रागद्वेष विचार भी करते हैं, किन्तु इन सबका मूल आधार निज आत्म स्वरूप का अनुभव नहीं कर पाते । जबतक अपने आत्मा को सर्व रूप नहीं जाना जाता तब तक मन में से राग द्वेष नहीं छूटता और राग-द्वेष से पुण्य पाप, ऊँच-नीच, शरीरों की प्राप्ति होने से दुःख से भी कोई जीव मुक्त नहीं हो सकता । संसार को देने वाला मन ही है वह आत्मज्ञान द्वारा ही अमन होता है । और यह कार्य इस बिना सींग पूँछ के प्राणी में ही संभव हो सकता है अन्य में नहीं । मनुष्य देह प्राप्त कर भी यदि अपने आत्म का ब्रह्मरूप सर्वरूप अनुभव नहीं कर अन्योपासना, भेद दृष्टि बनी रही तो फिर तुलसी दास कहते हैं -

अस प्रभु छाड़ि भजेहि जो आना ।
ते नर पशु बिन पूंछ विषाना ।।

वह तो मनुष्य होते हुए भी बिना सींग पूँछ का पशु है । चाहे वह पंड़ित हो कि संन्यासी हो कि देव ही क्यों न हो उन्हें शान्ति कभी नहीं मिल सकती जो परमात्मा को आत्मा से अलग देखते हैं ।

प्राणी मात्र एक आत्म ब्रह्म ही है ऐसा जो भाग्यशाली अनुभव कर पाते हैं वही उस परमपद अखण्ड आनन्द कैवल्य मोक्ष को प्राप्त होते हैं । उन्हें फिर अन्य कुछ करना शेष नहीं रहता । वे जीवित ही संसार सागर से पार हो चुके हैं, क्योंकि उनका मन समभाव में स्थित हो गया है । सम एवं निर्दोष ही ब्रह्म है वे उसी में अपने आत्मा को स्थिर कर चुके हैं । योगेश्वर कहते हैं -

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।

- गीता : ५/१९

ऊपरोक्त तात्पर्य को अज्ञानी लोग न जान कर राग-द्वैष से संयुक्त होकर महादुःख को भोगते रहते हैं । जिसने एकत्व भाव का अनुभव कर लिया उसे मोक्ष मरने के बाद मिलेगा ऐसा नहीं, कहीं लोकान्तर में जाना होगा ऐसा भी नहीं, कोई विशेष आनन्द की प्राप्ति होगी ऐसा भी नहीं । यहीं जीवित अवस्था में ही उसको मोक्ष प्राप्त हो गया है । और वह मोक्ष है राग-द्वेष, वासना से रहित मन, आत्मा का सर्वरूप में अनुभव करने की स्थिति का नाम, क्योंकि फिर ऐसे ज्ञानी को अन्य की प्रतीति न होने से समस्त असुर प्रकृति का लोप हो जाने से जो निर्भय अखंण्ड आनन्द की अनुभूति होती रहती है उसका सुख वही जाने अन्य नहीं । देह का जन्म मरण तो सभी का होता है चाहे वह अवतारी, संत, ज्ञानी, अज्ञानी, पशु, कीटादि कोई भी हो प्रकृति का नियम सर्वदा सबके लिये समान है । जो भी जान कर या अनजान में आग को स्पर्श करेगा उष्णता का अनुभव होगा ही । अस्तु मोक्षगामी फिर पूर्ववत् देहभाव को राग-द्रेष को या वासना रूप बन्धन को

प्राप्त नहीं होते हैं । व सदा सदा के लिये जीवनमुक्त हुए जगत् कल्याण नारद, वशिष्ठ आदि की तरह करते रहते हैं । बस वासना रूप देह या सूक्ष्म देह का ज्ञानाग्नि के द्वारा नष्ट होने के क्षण से ही वह सदा-सदा के लिये मुक्त ही है । आत्मभाव का होना ही विदेह होना है और वही विदेह मोक्ष भी कहलाता है । देह भाव के छुटने के अलावा विदेह मोक्ष अन्यथा प्रकार का नहीं होता । वासना का नाश आत्मभाव द्वारा ही होता है । इसीलिये आत्मभाव प्राप्त करना ही मानव जीवन की श्रेष्ठता है । एकात्म भाव ही परमानन्द प्राप्ति की एकमात्र सर्वोच्च साधना है ।

चाहे जिस अवस्था में, स्थान में, व्यवहार में, सुख में, आशा में कर्तव्य में या कीर्ति प्रतिष्ठा के मध्य स्थित हो किन्तु अपने आत्मभाव के निश्चय को उसी प्रकार दृढ़ रखे जैसे एक अज्ञानी अपने देह भाव नाम जाति आदि के प्रति निश्चय रखता है ।

विश्व क्रम का नियम तो सनातन है । चन्द्र, सूर्य, वायु, जल, पृथ्वी सभी निरंतर कार्यरत है । किसी ने विश्राम नहीं चाहा है याने अभाव नहीं पाया है । तब फिर मोक्ष की कल्पना अपने अभाव होने पर करना अज्ञान ही है । देह होते हुए संसार में वृद्धि करते हुए मोक्ष होता है ।

देहात्मबुद्धिजं पापं न तद्गोबध कोटिभिः ।
आत्माऽहं बुद्धिज पुण्य न भूतं न भविष्यति ।।

ऐसा गीता (५/१९) में स्पष्ट कहा है । अतः उसी आत्म अनुभव को प्राप्तकर मानव जीवन सफल बनाना चाहिये । यदि एक क्षण भी जीव एकात्म अनुभव करे तो पुराण कहते हैं उसके समान पुण्यशाली विश्व में कोई नहीं, अनन्त इन्द्र सुख उसी में समा जाते हैं । फिर जो नित्य यही निश्चय रखे तो उसके सुख की तो कल्पना भी कौन कर सकता है । ऐसे मनुष्य तो साक्षात् नारायण ही है । उनके दर्शन मात्र से ही मनुष्य के पाप नष्ट हो जाते हैं ।

किन्तु जो देह भाव मे रहते हैं, भेद दृष्टि रखते हैं उनके लिये पुराण कहते हैं कि एक-एक श्वाँस में करोड़ों गायों के मारने का जो पाप लगता है उससे ज्यादा पाप उस देहात्मभावी मनुष्य को लगता है, क्योंकि देह भाव से अभिमान एवं उससे समस्त पाप उत्पन्न होते हैं । और मैं सच्चिदानन्द आत्मा ही सर्व हूँ ऐसी भावना से ही जीव कृतकृत्य होता है । फिर उसने समस्त पुण्य, समस्त यज्ञ, दान, उपासना, कर्म तथा समस्त तीर्थों का जो जो पुण्य फल होता है वह सब एक ही आत्मनिष्ठा द्वारा प्राप्त कर लिया कहा जाता है ।

प्रश्न - १५३ : ब्रह्म ज्ञान अनिष्ट की निवृत्ति और इष्ट प्राप्ति का हेतु है इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर : ब्रह्मज्ञान से अनिष्ट निवृत्ति और इष्ट प्राप्ति होने में बहुत से श्रुति स्मृतियों के प्रमाण है । तैतिरीयोपनिषद के ब्रह्मानन्द वल्ली के प्रथम अनुवाक् के प्रथम मंत्र में कहा है -

ब्रह्मविदाप्नोति परम् । -२/१ तैतिरीय.उप.

ब्रह्म ज्ञानी महात्मा परब्रह्म को जानकर ब्रह्म को मैं रूप में पा लेता है । अर्थात् वह स्वयं ही ब्रह्म रूप हो जाता है । रामायण में श्री गोस्वामी तुलसी दासजी भी कहते हैं -

''जानत तुम्हही तुमहि होई जाई''

अर्थात् ब्रह्म को जानकर ब्रह्म ही हो जाता है । कैसा परब्रह्म बन जाता है ? इसको इसी उपनिषद के २ मंत्र में कहा है -

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म

ऊपरोक्त मंत्र में परमात्मा के स्वरूप का लक्षण बतलाया है कि सत्य अर्थात् नित्य, ज्ञान अर्थात् चैतन्य तथा अनन्त । और जो विभू है, अनन्त है वही सुख रूप होता है । अल्प सुख रूप कभी नहीं है । ऐसा सनत्कुमार जी

ने नारद को उपदेश में कहा है -

यौ वै भूमा तसमृतमथ यदेल्पं तन्मर्त्यम् ।

- छान्दोग्य.उप. ७/२४/१

''यौ वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति''

जो भूमा है वही सुख है वही अपरिच्छिन्न है । जो अल्प है वही दुःख है वही परिच्छिन्न है । इस प्रकार ब्रह्म को जानने वाला सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त हो जाता है । अब ऐसा ब्रह्म किस देश में प्राप्त होगा ? उसके उत्तर में श्रृति आगे कहती है -

''यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्''

वह परमात्मा विशुद्ध आकाश में प्राणीयों के हृदय रूप गुफा में ही स्थित है । किसी पहाड़ की कन्दराओं में या पर्वत की चोटी पर या देश विदेश उसे ढुंढने जाने की जरूरत नहीं । अब उसे जान गये तो क्या फल की प्राप्ति हागी ? तो उसके उत्तर में श्रृति कहती है ।

''सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति''

उस ब्रह्म को जो जानता है वह उस विज्ञान स्वरूप ब्रह्म के साथ समस्त लोक एवं भोग को प्राप्त हो जाता है । वह पूर्णकाम, आप्तकाम, आत्मकाम हो जाता है । तथा छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय के ३ मंत्र में कहा है -

''तरति शोकमात्मवित्''

नारदजी कहते हैं कि ब्रह्मज्ञानियों से मैंने सुना है कि आत्मवेत्ता शोक से तर जाते हैं । परन्तु हे भगवन् ! मैं तो केवल मंत्रवेत्ता हूँ आत्मवेत्ता नहीं हूँ इसीलिये शोक के सागर में डुबा रहता हूँ । मैं चारों वेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, निधिशास्त्र, गणित, ज्योतिष, नृत्य, गान, गारुड़ मंत्र, भूत विद्या, नक्षत्र विद्या, वेद विद्या, ब्रह्म विद्या, उत्पात ज्ञान आदि सभी विद्याओं को

जानता हूँ, किन्तु आत्मा को नहीं जानता । अतः मुझे शोक से बचाइये । भगवन् ! कैसे में अज्ञान मूलक संसार समुद्र को तर सकुँगा ? वही उपदेश कीजिये । तब सनत्कुमारों ने कहा था नारद अपना आत्मा ही भूमा है वही अपरिच्छिन्न है, वही सुख है । उसे छोड़ सब अल्प है परिच्छिन्न है तथा दुःखरूप है । तब नारदजी आत्म स्वरूप में स्थित हो शोक से निवृत्त हुए ।

यदि यह शंका करें कि ब्रह्म तो ज्ञान एवं अनन्त रूप है आनन्द रूप नहीं है । अतः उसको जानने वाला आनन्द को कैसे प्राप्त होगा तो उसके समाधान में श्रृति कहती है -

रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवती । को ह्येवान्सात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति ॥

वह ब्रह्म रस स्वरूप है । इस संसार का सार रूप आनन्द है । रस रूप ब्रह्म को पाकर ही अर्थात् आनन्द ब्रह्म मैं हूँ ऐसा जानकर ही आनन्दित होता है । सबसे उत्तम अपरिच्छिन्न सुख को प्राप्त होता है । ब्रह्म और आत्मा की एकता के दृढ़ ज्ञान बिना अन्य साधनों द्वारा सौ ब्रह्माओं के बीत जाने पर भी यह आनन्द का भागी नहीं होता ।

निश्चित ही यह आनन्द रूप परमात्मा इस देह में न होता तो कौन इस देह की बीमार अवस्था में प्राण अपान की क्रिया को करता । अतः जब तक अपने आत्मा को परब्रह्म रूप नहीं जानता तब तक जीव अनेक कष्ट साध्य साधनों द्वारा भी सुख का भागी नहीं होता । इसी अभिप्राय को श्वेताश्वतर उपनिषद के छठे अध्याय के २० मन्त्र द्वारा प्रमाण रूप जान लीजिये ।

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

- श्वे. उप. ६/२०

जब मनुष्य आकाश को चमड़े की तरह लपेट सकेंगे तब उन परमदेव

परमात्मा को बिना जाने भी जीव के दुःख समुदाय का अन्त हो सकेगा । तात्पर्य यही है कि बिना अपने आत्मदेव को जाने जीव दुःख के सागर को पार नहीं कर सकेगा, क्योंकि विश्व के सभी मनुष्य मिलकर भी आकाश को चमड़े की तरह नहीं लपेट सकते और न बिना आत्मा को जाने शोक को तर सकते हैं । गीता स्मृति भी इस अभिप्राय में प्रमाण रूप है ।

इदंज्ञान मुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।

- गीता : १४/२

अर्थात् इस जीव ब्रह्म एकत्वरूप तत्त्वज्ञान को जानने वाला ब्रह्म भाव को प्राप्त हुआ पुरुष सृष्टि के आदि में पुनः उत्पन्न नहीं होता और प्रलयकाल में भी व्याकुल नहीं होता । क्योंकि उसकी दृष्टि में अपने अबिनाशी ब्रह्मात्मा से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं । जिसका जन्म नहीं उसे नाश का भय क्यों होगा वह तो अब देह भाव से सर्वथा मुक्त हो गया है ।

इस प्रकार श्रुति स्मृति से यह बात प्रमाणित है कि आत्मवेत्ता जन्म-मृत्यु रूप दुःख से छूट मोक्ष को प्राप्त हो जाता है । और जो इस आत्मज्ञान में श्रद्धा न कर जीव ब्रह्म में भेद रखता है उसको भय की प्राप्ति बतलाई है । गीता स्मृति में कहा है -

अश्रद्दयानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्यु संसार वर्त्मनि ।।

- गीता : ९/३

अर्थात् इस तत्त्वज्ञान रूप धर्म में श्रद्धा रहित पुरुष ब्रह्मात्मा की एकता को न प्राप्त होकर भेद भ्रान्ति के कारण मृत्युरूप संसार चक्र में ही भ्रमण करते हैं ।

तैतिरिय उपनिषद २/७ में आये ''यदा ह्येवैष'' आदि वचन का अभिप्राय यह है कि जिस समय यह मुमुक्षु अपने आपमें प्रतिष्ठित हो जाता

है, अर्थात् ब्रह्मात्म रूप निश्चय को प्राप्त होता है उस समय यह भय से रहित हो जाता है। अर्थात् मोक्ष रूप अद्वितीय ब्रह्म को पा लेता है। तथा पुनः आगे कहा है -

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नु दरमन्तरं कुरुते ।
अथ तस्य भयं भवति ।

और जबतक यह जीव थोड़ा सा भी इस अन्तरात्मा रूप परमात्मा से भेद, वियोग या दूरी किये रहता है तबतक उसको जन्म-मृत्यु का भय प्राप्त होता रहता है। तात्पर्य यही है कि जीव ब्रह्म एकत्व ज्ञान द्वारा ही जीव अभय पद को प्राप्त होता है।

प्रश्न- १५४ : भेद देखने वाले को भय की प्राप्ति होती है इसमें अन्य क्या प्रमाण है ?

उत्तर : श्रृति में लिखा है कि ''द्वितीया द्वै भयं भवति'' अर्थात् दूसरे से भय होता है। अतः जिससे भय न हो ऐसी संशय विपर्यय रहित बुद्धि को बनावे कि ''ब्रह्म मैं हूँ''। और इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये श्रुति कहती है कि मुमुक्षु जब श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप वास कर श्रवण, मनन आदि के द्वारा अभेद ज्ञान को जब प्राप्त होता है तभी वह विद्वान् भय रहित मोक्ष रूप अद्वितीय ब्रह्म को प्राप्त होता है। और जिस काल में यह मुमुक्षु इस देश काल वस्तु से अपरिच्छिन्न ब्रह्मात्मा में थोड़ा भी भेद देखता है अर्थात् अपने को उपासक और ब्रह्म को उपास्य समझता है। याने अपने को भक्त और परमात्मा को भगवान या सेवक स्वामी रूप में मानता है उसी समय में उसको संसार सम्बन्धी दुःख रूप भय होता है।

तैतिरीय श्रुति २/८ में कहा है कि पूर्व जन्म में प्रसिद्ध जगत् के नियामक वायु, सूय, अग्नि, मृत्यु, इन्द्र ये पाँचों देवता धर्म परायण कर्म करते हुए भी अपने प्रत्यागात्मा और ब्रह्म में अन्तर कर लेने मात्र से उसी ब्रह्म के भय से वायु आदि जन्म-धारण कर अपने-अपने व्यापारों में ही सदा लगे

रहते हैं ।

अतः ब्रह्मात्मा के निश्चय वाला आनन्द को प्राप्त हुआ पुरुष किसी भी ऐहिक व्याघ्रादि भय से लेकर पारलौकिक भय हेतु पाप आदि से भी भयभीत नहीं होता । कर्म रूपी हृदय को जलाने वाली अग्नि की चिन्ता केवल इन ज्ञानी पुरुषों को ही नहीं तपाती ।

प्रश्न - १५५ : ज्ञानी को पुण्य-पाप क्यों नहीं सताते ?

उत्तर : ज्ञानी को मैंने यह पुण्य कर्म नहीं किया पाप कर्म क्यों कर लिया इस प्रकार की चिन्ताएँ तप्त नहीं करती । क्योंकि वह आनन्द रूप ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं जानता हुआ किसी से भय नहीं करता ।

जो कोई पुरुष ऐसा जानता है कि सूर्य मण्डल में जो परमात्मा है वही इस व्यष्टि संघात् देह में है इस प्रकार दोनों को एक जानता हुआ वह ब्रह्म मैं हूँ ऐसा अपरोक्ष ब्रह्मभिन्न आत्मा को अनुभव करता हुआ पुण्य-पाप दोनों को यहीं छोड़ देता है । तब फिर उनसे होने वाला सुख-दुःख भी उसे नहीं होता । उसे न कर्म करने की चिन्ता रहती है, न पुण्य-पाप की न उससे होने वाला उसे दुःख ही रहता है । और यह विद्वान् जो कुछ भी कर्म करता है और उनका जो फल पुण्य-पाप कहा जाता है उसे भी यह अपने आत्म स्वरूप ही देखता है कि जो कुछ यह है सब आत्मा है । इससे ज्ञानी को सब कुछ आत्म स्वरूप निश्चय हो जाने से सुख-दुःख सन्ताप नहीं देते ।

प्रश्न- १५६ : ज्ञानी के अनादिकालीन अनन्त संचित कर्मों की तो चिन्ता बनी रहती है या नहीं ?

उत्तर : अनादि समस्त संचित कर्मों का मूल कारण एक मात्र अज्ञान है और उस अज्ञान को ज्ञान से नष्ट कर चुका है इसलिये तत्त्वज्ञानी को चिन्ता ही नहीं रहती । जब बीज ही नष्ट कर दिया तब उसके फल, वृक्ष, डाल, पत्ते की चिन्ता भला कैसे हो सकेगी ? उस तत्त्वज्ञानी के प्रति मुण्डक श्रुति कहती है -

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।।

- मुण्डकोपनिषद : २/२/८

ब्रह्मादि से भी श्रेष्ट ऐसे परमात्मस्वरूप को जान लेने पर अर्थात् उस परब्रह्म पुरुषोत्तम को अपने आत्मस्वरूप जान लेने पर इस साक्षात्कार करने वाले मुमुक्षु का बुद्धि और चिदात्मा का परस्पर गाँठ के समान सुदृढ़ जो अनन्योध्यास था वह दूर हो जाता है । जिसके कारण इसने अनादिकाल से इस शरीर को ही अपना स्वरूप समझ रखा था । इसके समस्त संशय नष्ट हो जाते हैं कि आत्मा देह से भिन्न है या देह रूप है । यदि देह से आत्मा भिन्न है तो कर्ता-भोक्ता है या अकर्ता-अभोक्ता है ? आत्मा यदि अकर्ता है तो वह ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न है । और वह अभिन्न है तो कर्म आदि के सहित मुक्ति का साधन है या केवल कर्म अथवा उपासना का ? ये सब संदेह दूर हो जाते हैं, क्योंकि भली प्रकार तत्त्व से साक्षात् की हुई वस्तु में संशय विपर्यय पुनः ज्ञान को नष्ट नहीं कर पाते ।

और पुण्य-पाप रूप संचित कर्म अपने कारण मूल अज्ञान सहित नष्ट हो जाते हैं । अर्थात् वह जीव समस्त शुभाशुभ कर्म जाल से मुक्त होकर परमानन्द स्वरूप परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है ।

याज्ञवल्क्य ब्राह्मण के ''नैनं कृताकृते तपतः'' वाक्य का अभिप्राय भी यही है कि साधन चतुष्टय संपन्न धीर पुरुष सच्चिदानन्द आदि लक्षण वाले ब्रह्म को समझ कर इसी जन्म में हर्ष शोक दोनों को छोड़ देता है । तथा पुण्य पाप किये हो या न किये हो वे इसमें चित्त के विकार को उत्पन्न नहीं करते । जैसे कि अज्ञानी को दुःखदायी हुआ करते हैं तत्त्ववेत्ता को नहीं । किया हुआ पुण्य और किया हुआ पाप नहीं सताते । तत्त्ववेत्ता के लिये तो निर्विकार ब्रह्मरूपता के ज्ञान के कारण पुण्य-पाप किसी भी प्रकार विकार के हेतु नहीं होते । न तो पूर्व जन्म के कर्म न वर्तमान जन्म के कर्म उसे कदाचित भी दुःख नहीं देते । इसलिये ज्ञानी को कर्मों के होने न होने, शुभ होने अशुभ

न होने आदि किसी भी प्रकार के व्यवहार में आग्रह या भय नहीं रहता । उसकी जैसी तृप्ति विश्व में किसी को नहीं होती ।

प्रश्न - १५७ : कर्म से मुक्ति न होने में क्या प्रमाण है ?

उत्तर : श्वेताश्वतरउपनिषद के छठे अध्याय के १५ मंत्र में यह बात कही है कि -

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ।

विद्वान् उस परमात्मा को जानकर ही संसार को पार करता है । इसके लिये अन्य कोई मिला जुला ज्ञान एवं कर्म अथवा केवल कर्म रूप कोई मार्ग मुक्ति के लिये नहीं है ।

''**ज्ञानादेव तु कैवल्यम्**'' ज्ञान से ही कैवल्य की प्राप्ति होगी ।

''**ऋतेज्ञानान्न मुक्ति**'' ज्ञान के बिना मुक्ति ही नहीं ।

''**ज्ञानम् ज्ञेयम**'' ज्ञान से ही जानने योग्य है ।

''**ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः**'' उस स्वप्रकाश देव को प्रत्यक्ष करने वाले याने प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म को प्रत्यक्ष जानकर जो स्थित है उस पुरुष के काम, क्रोध आदि सब जाल कट जाते हैं ।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।

इसी जगत् में ब्रह्म को जान लिया तो मंगल रूप है और यहाँ न जाना तो महान् नाश है ।

''**य एतद्विदुरमृतास्ते भंवति**''

जो पुरुष इस ब्रह्म को जानते हैं वे अमृत होते हैं ।

''**अथेतरे दुःखमेवापियंति**'' उनसे अन्य तो दुःख को ही भोगते हैं ।

सर्व भूतस्थमात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि ।

संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वराज्यमधि गच्छति ॥

सम्पूर्ण भूतों में स्थित आत्मा को और आत्मा में सम्पूर्ण भूतों को भले प्रकार देखता हुआ आत्मयाजी (ज्ञानी) मोक्ष को प्राप्त होता है ।

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा स्माल्लोकात् प्रैति स कृपणो इथ य एतदक्षरं गार्गी विदित्वा स्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः ।

- वृहदा. उप. ३/८/१०

हे गार्गी ! जो भी इस अक्षर आत्मा को बिना जाने संसार से चला जाता है वह कृपण है और जो जान लेता है वही ब्राह्मण है, अमृत है ।

तं विद्याद् दुःख संयोग वियोगं योग संज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगऽनिर्विण्ण चेतसा ॥

- गीता : ६/२३

जो दुःख रूप संसार से मुक्त कराने वाला है तथा जिसका नाम ज्ञानयोग है उसको जानना चाहिये । वह ज्ञानयोग स्थिर चित्त से निश्चय पूर्वक कर्तव्य है । जिस योग के द्वारा जिस ब्रह्मात्म एकत्व बोध की प्राप्ति होती है उससे अधिक बड़ा जीवन का कोई लाभ अन्य नहीं है । जिसके परिणाम स्वरूप वह पुरुष बड़े से बड़े दुःख से भी चलायमान नहीं होता ।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

- गीता : ६/२२

ऊपरोक्त श्रुति, स्मृति, इतिहास तथा पुराणों के वचन ज्ञान द्वारा मोक्ष में प्रमाण रूप है । रामायण में श्री गोस्वामी तुलसी दासजी तत्त्ववेत्ता के प्रति कहते हैं -

‘‘**कर्म की होहिं स्वरूपही चीन्हे**’’

जिसने अपने आत्म स्वरूप को ब्रह्म रूप से जान लिया है उससे भला

कर्म फिर किस फल के उद्देश्य से होंगे ? अर्थात् नहीं होंगे । तथा भेद से मोक्ष नहीं इस बात को भी आगे कहा है -

"दशरथ भेद भक्ति उर लावा, ताते उमा मोक्ष नहीं पावा "

प्रश्न- १५८ : सुषुप्ति अवस्था में यह जीव ब्रह्मानन्द रूप ही होता है इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर : छान्दोग्य उपनिषद के अष्टम अध्याय के चतुर्थ खण्ड के २ मंत्र तथा १० खण्ड के ३ मन्त्र में सुषुप्ति अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है कि -

सुषुप्ति में अन्धा अन्धा नहीं रहता, घायल घायल नहीं रहता, रोगी रोगी नहीं रहता अर्थात् देह अभिमान को लेकर जितने भी शूल उत्पन्न होते हैं वे सब सुषुप्ति स्थित प्राग को एक भी नहीं होते तथा सुषुप्ति में रोगी को रोगादि की यातन भी सन्तप्त नहीं करती यह सबका अनुभव है ही । सब कोई निद्रा से सुबह उठ कर कहते हैं कि मैंने रात सुख से सोया बहुत मधुर नींद आयी । यह आनन्द का अनुभव बिना किसी देह अभिमान एवं विषय के अनुभव सिद्ध है । यदि सुषुप्ति में सुख न होता तो जाग्रत के कठिन परिश्रम द्वारा संग्रह समस्त अहं मम के विषय को छोड़ बड़े-बड़े प्रयत्नों से कोमल शय्या आदि साधनों को क्यों जुटाया जाता ? तथा रोग से संतप्त व्यक्ति भी डाँक्टर से निद्रावस्था की प्राप्ति हेतु गोलियाँ या इन्जेक्सन ग्रहण क करते ।

वृहदारण्यक श्रृति कहती है (४/३/२२) कि - इस सुषुप्ति अवस्था में पिता अपिता हो जाता है, माता अमाता हो जाती है, लोक अलोक हो जाते हैं, देव अदेव हो जाते हैं, वेद अवेद हो जाते हैं । यहाँ चोर अचोर हो जाता है, यहाँ भ्रुण हत्या करने वाला अभ्रुणहा हो जाता है तथा चाण्डाल अचाण्डाल, श्रम अश्रम हो जाता है । अशान्त शान्त हो जाता है, काम अकाम, क्रोध अक्रोध, लोभ अलोभ और मोह अमोह हो जाता है । उस समय यह पुरुष पाप-पुण्य से युक्त होकर भी अयुक्त हो जाता है और हृदय के

सम्पूर्ण शोकों को पार कर लेता है, क्योंकि सब अवस्थाओं का सम्बन्ध कर्म (क्रिया) से है और सुषुप्ति में जीव सब कर्मों का अतिक्रमण कर जाता है । यह संसार देहाभिमान मूलक है । देह अभिमान के हटते ही सब शोक अर्थात् संसार समाप्त हो जाता है ।

अथर्व वेद की श्रुति कहती है - सुषुप्ति काल में इस सम्पूर्ण प्रपंच के अपनी उपादान भूत तम प्रधान प्रकृति में विलीन हो जाने पर उस तमो रूप प्रकृति से आच्छादित जीव सुख स्वरूप ब्रह्म हो जाता है ।

आगे वृहदारण्यक श्रुति पुनः कहती है कि जिस अवस्था में यह सोया हुआ पुरुष किसी भोग की इच्छा नहीं करता और न कोई स्वप्न ही देखता है, वह इसका काम रहित, पाप रहित और अभय रूप है । व्यवहार में जिस प्रकार अपनी प्रिया स्त्री को आलिंगन करने वाले पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का, इसी प्रकार यह पुरुष प्रज्ञात्मा से आलिंगन करने पर न कुछ बाहर का विषय जानता है और न भीतर का, यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकशून्य रूप है ।

किन्तु इस सुषुप्ति में प्रसंग से कोई यह न समझ ले कि सुषुप्ति में जीव आत्मनिष्ठ एवं सर्वात्मा हो जाता है । यह अवस्था विशेष का सुख अल्प है, विभू नहीं है, जाग्रत में इसका अभाव हो जाता है । सुषुप्ति अवस्था का दृष्टान्त तो बोध कराने के लिये एक अंश लेकर दिया जाता है कि उस समय कुछ भी द्वैत सा नहीं रहता और अद्वैत सा होने से आनन्द के अलावा कुछ अनुभव में नहीं आता । किन्तु उस अवस्था में संसार का मूल अज्ञान विद्यमान होने से पुनः जाग्रत में आना पड़ता है, क्योंकि जब तक अज्ञान आवरण का नाश ज्ञान द्वारा नहीं किया जायेगा तब तक स्वरूप बोध नहीं होता ।

इसी प्रकार स्त्री पुरुष कै मैथुन का द्रष्टान्त भी वस्तु को समझाने के लिये एकदेशीय द्रष्टान्त है । सच तो यह है कि मुक्त पुरुष की किसी दूसरे के

साथ वास्तविक तुलना हो ही नहीं सकती । अतः द्रष्टान्त को सत्य न मानें किन्तु सिद्धान्त को ग्रहण करें कि इस प्रकार सुषुप्ति में जीवात्व का निषेध कर देने के कारण ब्रह्मत्व ही शेष रह जाता है । जीव नहीं रहता, क्योंकि उस समय सांसारिक भाव का पता नहीं चलता है । अतः यही निश्चय करें कि अपना आत्मा स्वयंप्रकाश सुख रूप है, विषय निरपेक्ष आनन्द रूप है । जब जीव इस स्वरूप को जाग्रत काल में गुरु मुख से जानकर निश्चय करेगा तभी वह मोक्ष को प्राप्त हो सकता है ।

प्रश्न- १५९ : सुषुप्ति में तो अन्तःकरण लय को प्राप्त हो जाता है तब सुख एवं अज्ञान का अनुभव कैसे मान लिया जाय ?

उत्तर : सुख तो स्वप्रकाश चिद्रुप है उसे किसी साधन की अपेक्षा नहीं है और अज्ञान अनुभव करने वाले साधक का तो अभाव है ही नहीं, क्योंकि सुख तो स्वप्रकाश रूप होने से जगमगाता ही है और उसको ढ़क कर रखने वाला अज्ञान आवरण भी उसी स्वप्रकाश आत्मा से ही प्रकाशित हो जाता है । जैसे अधिक रोशनी वाले बल्ब को रात के समय किसी गहरे कागज या काँच आदि के हन्डे से ढ़क देने पर भी वह प्रकाश के प्रभाव से अन्य बाहर के प्रकाश के बिना प्रकाशित होता रहता है । और भीतर का प्रकाश तो स्वप्रकाश ही है । इसलिये कहते हैं सुख चेतनात्मक है । अतएव बिना साधनों के ही प्रकाशित या ज्ञात हो जाता है । और उसी स्वयंप्रकाश सुख के सहारे से उसे ढ़कने वाले अज्ञान की प्रतीति भी हो जाती है । क्योंकि श्रुति कहती है -

''**विज्ञान आनन्दं ब्रह्म**'' अर्थात् विज्ञान आनन्द रूप ब्रह्म है याने ब्रह्म विज्ञान और आनन्द दो प्रकार का है । इसलिये जो स्वयंप्रकाश सुख है वह सब ब्रह्मतत्त्व है । वह और कुछ नहीं है । अतएव सुषुप्ति में होने वाला स्वयंप्रकाश सुख भी ब्रह्मरूप ही है । इसमें जरा भी संदेह न करें और ब्रह्म को प्रत्यगात्मा से तनिक भी बाहर न देखे ।

गुरु एवं शास्त्र के उपदेश द्वारा जब यह विशेष रूप से जान लेता है कि "यह सुषुप्ति में विद्यमान आनन्द नित्य निरतिशय (जिससे बड़ा सुख अन्य नहीं है) मेरा निज रूप ब्रह्म है" तब इस प्रकार के तत्त्वबोध से अज्ञान निवृत्त हो जाता है। और उससे कर्त्तव्य रूप अनर्थ की निवृत्ति रूप पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है।

जैसे गड़े धन से कोई लाभ नहीं होता जब तक कि उसे खोद कर निकाला नहीं जाय। ऐसे ही सुषुप्ति में विषय सुख की भ्रान्ति अनुभूत ब्रह्मानन्द से भी अनर्थ की निवृत्ति रूप पुरुषार्थ को प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि अनर्थ का कारण अज्ञान तो विद्यमान ही रहता है। अतः अत्यन्त गम्भीर मन, वाणी, बुद्धि के अगोचर ब्रह्मतत्त्व को गुरु और शास्त्र के द्वारा जानने की जिज्ञासा करना चाहिये। उसके बिना अन्य किसी उपाय से कोई भी नहीं जान सकता। ज्ञान को पुरा करने के लिये तो जबतक अपने में कृतार्थ होने की दृढ़ बुद्धि उत्पन्न नहीं होती तबतक गुरु की उपासना करते रहना चाहिये। कृतार्थता के अनुभव पर ही ज्ञान की पूर्णता है।

प्रश्न - १६० : आनन्द के मुख्य कितने भेद है ?

उत्तर : सुषुप्ति में स्वप्रकाश रूप से भासमान ब्रह्मानन्द कहलाता है। विषय अनुभव के बिना जाग्रत अवस्था में मिलने वाला सुख वासनानन्द कहलाता है, क्योंकि विषय जन्य सुख न होने पर भी "मैं हूँ" इस प्रकार का सामान्य अहंकार से आच्छादित होने के कारण वासनानन्द ही कहलाता है। तथा इच्छित वस्तु की प्राप्ति पर प्रिय मोद व प्रमोद वृत्ति द्वारा अन्तर्मुख मन में प्रतिविम्बित सुख विषयानन्द नाम से कहा जाता है।

ऊपरोक्त तीनों प्रकार के (ब्रह्मानन्द, वासनानन्द, विषयानन्द) आनन्द को छोड़कर जगत् में कोई किसी प्रकार का आनन्द नहीं है। और जो कहीं-कहीं विद्यानन्द भी कहा है किन्तु वह विषयानन्द के अन्तर्गत ही है। क्योंकि विषयानन्द की तरह विद्यानन्द भी अन्तःकरण एक वृत्ति विशेष है। और

निजानन्द, मुख्यानन्द, आत्मानन्द, योगानन्द और अद्वैतानन्द ब्रह्मानन्द से पृथक् नहीं है । इसलिये ब्रह्मानन्द वासनानन्द तथा विषयानन्द ये तीन ही आनन्द के मुख्य भेद हैं ।

जिस समय न तो द्वैत की प्रतीति है और न निद्रा ही होती है, उस समय जो सुख प्रतीत होता है वह ब्रह्मानन्द है ।

प्रश्न - १६१ : इस जगत् का उपादान चित्त (मन) नहीं है तब उसकी शान्ति से जगत् का मिथ्यापन कैसे सिद्ध होगा ?

उत्तर : चित्त ही संसार है । यह संसार चित्त के कारण ही भोग्य वनता है । सुषुप्ति, समाधि, मूर्च्छा आदि में चित्त का विलय हो जाने पर ही भोग भी नहीं रहता । यह सबके अनुभव की नित्य सिद्ध होने वाली बात है । इसीलिये शास्त्रों में चित्त का ही शोधन करना साधन रूप बतलाया है । स्वभाव से शुद्धात्मा में चित्त के संपर्क से ही संसारीपना आरोपित हो जाता है । जिस व्यक्ति का चित्त जिस पुत्र, स्त्री आदि में लगा रहता है वह उसमें तन्मय हुआ रहता है । उन पुत्रादि की पूर्णता अपूर्णता व कुशलता अकुशलता को अपने में ही भली भाँति आरोपित कर लेता है एवं सुखी दुःखी हुआ करता है । किन्तु जिस वस्तु या व्यक्ति में उसका चित्त आसक्त नहीं होता उस वस्तु या व्यक्ति के नाश होने पर या वृद्धि होने पर भी वह उसका सुख दुःख अपने में आरोपित नहीं करता । अतएव चित्त के शोधन से ही आत्मा की संसार से निवृत्ति संभव है ।

चित्त के प्रसन्न हो जाने पर अर्थात् चित्त में ब्रह्मतत्त्व का अनुसन्धान करने की योग्यता आ जाने पर मनुष्य शुभाशुभ कर्मों को नष्ट कर लेता है । और जिसका चित्त शुद्ध हो गया है वह ब्रह्म में अपनी आत्मा का एकत्व जान ब्रह्मभाव में स्थित होकर अद्वितीय ब्रह्म को ''मैं भी यही हूँ'' ऐसा निश्चय हो जाने पर संपूर्ण दृश्यों को मिथ्या जान छोड़ता हुआ चिन्मात्र रूप में स्थित रहकर अबिनाशी सुख को निश्चय से पा लेता है ।

प्राणी का चित्त इन्द्रियों की प्रवृत्ति की भूमि विषय में जैसे भली भाँति स्वभाव से आसक्त रहता है । वह ब्रह्म में यदि उसी प्रकार रम जावे तो भला कौन इस संसार से मुक्त नहीं होगा । अवश्य ही सब मुक्त हो सकेंगे ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तयै निर्विषयं स्मृतम् ॥

मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है । विषयासक्त मन बंधवाता है और निर्विषय मन मुक्ति दिलाता है ।

प्रश्न - १६२ : निरोध समाधि करने का क्या प्रयोजन है जब कि मुक्ति तो ज्ञान से ही सिद्ध होती है ?

उत्तर : मन्द अधिकारी को यह निश्चय नहीं होता है कि उसका अपना आत्मा विकल्प रहित निरतिशय आनन्द रूप है । ऐसे मन्द अधिकारियों को उनके आत्मा का वास्तविक स्वरूप अनुभव कराने हेतु याने उसकी ब्रह्मता निश्चय कराने हेतु निरोध समाधि का उपयोग होता है । अहंकार के विस्तार के कारण जिस निजानन्द को ढ़क रखा था वह अब अहंकार के संकोच से उघड़ने लगता है व जैसे-जैसे अहंकार का संकोच बढ़ने लगता है वैसे वैसे निजानन्द भी बढ़ता जाता है । अहं वृत्तियों के विलय होने से चित्त में सूक्ष्मता आ जाती है और निजानन्द उतना ही व्यक्त हो जाता है ।

स्वभाव दोष से चंचल एक विषय में बन्धकर न रहने वाला अस्थिर मन जिस-जिस इन्द्रियों के विषय शब्दादि को निमित्त बनाकर बाहर भ्रमण करता है उस-उस विषय की ओर से उसको रोक कर उन विषयों में मिथ्यात्व एवं दुःख का निश्चय करा वहाँ से वैराग्य की भावना दे-देकर उनसे हटाकर इस मन को आत्मा के चिन्तन में लगाना ही निरोध समाधि है । जिसके अभ्यास से मन आत्मा में शान्त हो जाता है ।

मोहादि क्लेश तथा रजोगुण के कारण जीवनमुक्ति का आनन्द नष्ट हो जाता है । निरोध अभ्यास से जिसका मन विक्षेप से सर्वथा शून्य होने से

शान्त हो गया है उस ब्रह्मभूत ''यह सब ब्रह्म है'' ऐसा ज्ञान हो जाने के कारण समस्त चिन्ता भय एवं पुण्य-पाप से मुक्त हुआ जीवनमुक्ति का सुख लाभ करता है ।

जैसे ईंधन से रहित अग्नि अपने कारण महाभूत तेज में शान्त हो जाती है अर्थात् ज्वाला रूप का त्याग कर तेज रूप में अवस्थित हो जाती है । उसी प्रकार अन्तःकरण भी वृत्ति क्षय हो जाने से निरोध समाधि के अभ्यास से राजसादि सब वृत्तियों का नाश हो जाने पर अपने कारण सत्त्वमात्र में शान्त हो जाता है । चित्त न रहकर केवल मात्र सत्य शेष रह जाता है ।

प्रत्यक् स्वरूप आत्मा में लगाये हुए समाधि जल से अर्थात् प्रत्यक् एवं ब्रह्म के एकत्व ज्ञान के अभ्यास से जिसका सम्पूर्ण रजोगुण, तमोगुण रूप मल धुलगया है, ऐसे चित्त को जो आनन्द समाधि में मिलता है (एकत्व निश्चय काल ही समाधि है) वह सुख आलौकिक होने से वाणी द्वारा कहा नहीं जा सकता । वह तो आत्म स्वरूप भूत सुख है जो केवल अन्तःकरण से ही ग्रहीत हुआ करता है । यद्यपि चिरकाल तक स्थिर रहने वाली वह समाधि मनुष्यों को दुर्लभ है तथापि क्षणिक भी वह समाधि ब्रह्मानन्द का निश्चय करा देती है । उसके पश्चात् ब्रह्मानन्द का जिज्ञासु उसके लिये निरन्तर प्रयत्नशील होकर समाधि सिद्धि कर ही लेता है । इस क्षणिक समाधि सुख को देखकर ही वह ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हेतु पूर्ण पुरुषार्थ करने में लग जाता है, क्योंकि मन्द जिज्ञासु विचार में असमर्थ समाधि में आनन्द के उपलब्ध होने पर ही मानता है कि मेरा आत्मा निरतिशय, आनन्द वाला है और फिर एक बार भी इस ब्रह्मानन्द का निश्चय जिसे हो गया है वह अन्य कार्य करते समय भी मेरा आत्मा आनन्दरूप है ऐसा अचल विश्वास रखता है । अतः अपने आत्मा के आनन्दस्वरूप का विश्वास दृढ़ कराने में इसका उपयोग है । वैसे उत्तम अधिकारी के लिये श्रवण, मनन, तथा निदिध्यासन एवं ''तत् त्वं'' पदार्थ शोधन ही एकमात्र साधन है ।

प्रश्न - १६३ : तत्त्वज्ञानी अपनी आत्मा को आनन्द रूप श्रवणादि द्वारा जानकर भी बाहर विषय सुख में प्रवृत्त क्यों दीखते हैं ?

उत्तर : जिस प्रकार कौवे की दर्शन शक्ति एक ही होती है और वह उसी से बाँये तथा दाँये गोलको में क्रमशः गमनागमन करती है । इसी प्रकार विवेकी की बुद्धि विषयानन्द और ब्रह्मानन्द दोनों में कौवे की पुतली की भाँति कभी इसमें कभी उसमें गमनागमन (आती जाती) रहती है । इस प्रकार तत्त्वज्ञानी विषयानन्द और ब्रह्मानन्द दोनों को एक साथ भोगता हुआ दोनों प्रकार के आनन्दों को जाना करता है । विवेकी लौकिक और वैदिक दोनों व्यवहारों में भी अपने आनन्द स्वरूप आत्मा को जानने के कारण दुःख में भी अज्ञान अवस्था की भाँति दुःखी नहीं होता है । अतएव दुःखानुभव के समय भी वह निजानन्द को नहीं भूलता । जैसे पर पुरुष या पर स्त्री से रति सुख का अनुभवी जीव घर के सब कार्य करते हुए भी उस सुख को मन से क्षण भर भी नहीं भूलता बल्कि सर्वदा उसी सुख का स्वाद लेता रहता है । इसी प्रकार 'पर' तथा 'शुद्ध' आत्मा में एक बार क्षण भर के लिये भी जिसने विश्राम प्राप्त कर लिया है वह धीर पुरुष बाहर से लौकिक व्यवहार करता हुआ भी मन में उसी आत्मतत्त्व का रसास्वादन किया करता है ।

इस प्रकार तत्त्वज्ञानी को जाग्रत काल में सदा सुख दुःख या उदासीन अवस्था में ब्रह्म सुख की प्रतीति होती रहती है । और इसी जाग्रत के दृढ़ अभ्यास से स्वप्न में भी उसे ब्रह्म सुख की प्रतीति होती रहती है । किन्तु जाग्रत की तरह पूर्ण आनन्द ही आनन्द प्रतीत नहीं होता, क्योंकि स्वप्न अविद्या वासना युक्त भी है । केवल आनन्द वासना के बल से ही नहीं होता । अतः अविद्या वासना जन्य स्वप्न में यह विवेकी भी मूर्खों की भाँति सुख और दुःख को देखता है ।

प्रश्न - १६४ : संसार का वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर : इस सम्बन्ध में यजुर्वेद की शाखा वाजसनेयी के प्रवर्तक

याज्ञवल्क्य ऋषि ने अपनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी को बोध कराते हुए कहा था वही संसार का स्वरूप समझना चाहिये । विस्तार सहित वृहदारण्यक उपनिषद् के दूसरे तथा चौथे अध्याय के ४ व ५ ब्राह्मण के ५ व ६ मंत्र वर्णन है ।

अरे मैत्रेयी ! पति के लिये पति प्यारा नहीं होता अर्थात् अपने लिये ही पति प्यारा होता है, क्योंकि जिस काल में पति रोग ग्रसित दुर्बल दरिद्र बेकार हो जाता है तब पत्नी उसके संग की इच्छा नहीं करती बल्कि पति के चाहने पर भी उसे तिरस्कार युक्त वचन कहती है । अतः जाया की जो यह प्रीति है वह अपने पति के सुख के लिये नहीं है, बल्कि अपने सुख के लिये ही होती है । जब पत्नी को पति की इच्छा होती है तभी वह पति के साथ नाना प्रकार के चुम्बन, नैन, स्पर्श, आदि साधनों से उसे फुसलाकर अपने प्रेम को पूरा कर लेती है । यदि पत्नी की इच्छा पति पूर्ण न करे तो फिर वह औरों से सम्बन्ध गुप्त रूप से जोड़ कर अपना सुख पूर्ण करती है ।

इसी प्रकार हे मैत्रेयी ! उधर पति भी अपनी पत्नी के लिये प्रीति नहीं करते, बल्कि अपने सुख के लिये प्रीति करते हैं । यदि पत्नी सदा रोगी रहे या किसी गुप्त रोग से ग्रसित रहे या उसकी सुन्दरता पति को सन्तुष्ट न कर सके या उसके चरित्र पर सन्देह मात्र हो जावे तो फिर उसे घर से निकाल देते हैं, या घर में ही अग्नि, जहर या शस्त्रादि से उसकी हत्या कर देते हैं । सास, ससुर, पति उसे माता-पिता के यहाँ से धन लाने को कहते हैं । न लाने पर पिटाई करते हैं, नाक, कान काटकर उसे छोड़ देते हैं तथा गुप्त रूप से पत्नी के सर्वांग सुन्दर होते हुए भी बाहर घिनौनी दूषित नीच वैश्याओं से सम्बन्ध जोड़े पड़े रहते हैं ।

इस प्रकार पति की पत्नी में जो प्रीति है वह पत्नी के सुख के लिये नहीं होती, क्योंकि पत्नी के सुख के लिये प्रीति हो तो संसार के सभी घर स्वर्ग बन जावे । किन्तु पत्नी के बार-बार अपने बच्चों की शपथ देने पर भी पति बाहर जाना, शराब पीना, जूआ खेलना एवं अन्य नशीली वस्तुओं का

व्यवहार बन्द नहीं करते हैं, बल्कि इस व्यवहार में बाधक अपनी पत्नी की ही जो दुर्दशा करते हैं वह जगत् में किसी से छुपी हुई नहीं है । जब कभी दोनों परस्पर प्रीति से प्रेम करते दीखते हैं, वह भी अपनी अपनी सुख की वासना को पूर्ण करने की भावना से ही प्रेरित होकर प्रीति युक्त दीखते हैं । किन्तु अन्य के लिये प्रीति युक्त कभी नहीं होते ।

अरे मैत्रेयी ! कोई पिता अपने पुत्र के सुख के लिये प्यार नहीं करता, बल्कि अपने सुख के लिये ही प्यार करते हैं । कोई छोटा बच्चा अपने पिता के चुम्बन को स्वीकार नहीं करता क्योंकि काँटो की तरह चुभने वाली दाढ़ी जब बच्चे के कोमल अंगो से रगड़ खाती है तो वह बेचारा जोर-जोर से रूदन करता है किन्तु वह फिर भी उसे नहीं छोड़ता । कोई बाप बच्चे का पालन पोषण उसके सुख के लिये नहीं बल्कि अपने वृद्धावस्था में सहायकारी की भावना से ही उसका पालन पोषण का कष्ट उठाते हैं ।

और आश्चर्य की बात कि अपने को आत्मज्ञान द्वारा मुक्त कराने के लिये प्रयत्नशील साधक संसार बन्धन से जन्म-मृत्यु से छूटने के लिये प्रयत्न करते हैं और दूसरे तरह किसी लड़के या लड़की को अपनी जगह संसार बन्धन में पैदा कर-करके डालते रहते हैं । ताकि वह अपने माँ बाप के नाम जीवन भर रोता रहे, संसार में बोझा ढोता रहे, क्योंकि वो कोई तत्त्वज्ञान की भावना एवं लोककल्याण की भावना से प्रेरित होकर तो मैथुन धर्म स्थापन करते नहीं वे तो कामावेश में आकर पशु धर्म स्थापन करते हैं और यह भावना अधिक से अधिक कर लेते होंगे कि हमारे जाने के बाद हमारा नाम चलावेंगे, हमारी कुल परम्परा चलेगी, हमारी जमीन घर, धन का अन्य कोई भोग न कर सकेगा । तब कहाँ रहे ये तत्त्वज्ञानी केवल शास्त्रपाठी हैं आत्मज्ञानी नहीं ।

इसी प्रकार हे मैत्रेयी ! कोई भी अपने पशु के लिये पशु का पालन, प्रीति आदि नहीं करते । अपने सुख के लिये ही करते हैं, क्योंकि पशु तो

खेतो में काम करने तथा बोझा ढोने की इच्छा नहीं करता, न गाय भैंस अपने स्नेह स्वरूप दूध को अपने बच्चे को छोड़ अन्य को ही पिलाना पसन्द करती है, क्योंकि जब उनके पास दूसरे पशु के बच्चे दूध पीने आते हैं तो वे उन्हें लात मार कर भगा देती है । परन्तु मनुष्य कितना होशियार है कि उनके आगे कुछ भोजन रख हाथ घुमाता-घुमाता पीछे टाँग बान्ध अपना कार्य सिद्ध कर लेता है । अतः पशु पालन में पशु से प्रीति नहीं है, किन्तु अपने सुख के लिये है । घर का चूहा बिल्ली ले जावे तो सुख का अनुभव करते हैं किन्तु वही घर की बिल्ली, पोपट को खा जाये तो बिल्ली की टाँग भी तोड़ देते हैं । इससे सिद्ध है कि मनुष्य की प्रीति पशु के सुख के लिये नहीं अपितु अपने ही सुख के लिये होती है ।

इसी प्रकार कोई भी धन, मोटर, बंगलों के लिये इन्हें नहीं संग्रह करते बल्कि अपने उपयोग के लिये इनका संग्रह देख रेख करते हैं । क्योंकि पुत्र, पत्नी, आदि में तो सन्देह हो भी सकता है कि क्या पता किसकी प्रीति के लिये करते होंगे किन्तु धन, रत्न, स्वर्ण, चाँदी ये तो जड़ है इनमें तो इच्छा का होना सम्भव ही नहीं है ।

अरी मैत्रेयी ! कोई भी पुरुष ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि जाति के लिये जाति से प्रीति नहीं करते किन्तु उस जाति के अभिमान को धारण करने वाला पुरुष ही उस जाति से प्रीति करता है कि मैं ब्राह्मण होकर सबसे पूजित होऊँगा, लोग मेरी सेवा करेंगे आदि । इसी प्रकार क्षत्रिय जाति के लिये क्षत्रिय जाति प्रिय नहीं है बल्कि क्षत्रिय जाति का अभिमान धारण करने वाला अपने वैभव, प्रतिष्ठा के लोभ से कि मैं शूरवीर क्षत्रिय हूँ, राजा हूँ । इस हेतु से ही क्षत्रिय आदि जाति से प्रीति रखते हैं । जाति तो चेतन ही नहीं तो उसे क्या अभिमान या सुख होगा ?

हे मैत्रेयी ! कोई भी स्वर्ग, ब्रह्मलोक आदि के उपकार के लिये पुण्य कर्म या उपासना नहीं करते, बल्कि अपने मन में दिव्य भोगों की वासना से

प्रेरित होकर ही दान,धर्मादि शुभ क्रियाओं का सम्पादन कर उन-उन लोकों में सुख हेतु जाते हैं ।

अरे मैत्रेयी ! जगत् में जो भी ईश्वर विष्णु, राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, जीसु, नानक, मुहम्मद, गुरु आदि की भक्ति करते हुए प्रतीत होते हैं वे सब उनके लिये नहीं करते बल्कि अपने पापनाश एवं शुभगति की कामना से उनके प्रति प्रीति करते हैं । पुजा करने से देवता का तो पाप नष्ट होना ही नहीं वे तो स्वयं पुण्यशाली ही हैं । केवल पूजा कर्ता उपासक का ही पाप नाश होना होगा तो हो सकेगा, क्योंकि यह बात उसकी पूजा पद्धति तथा श्रद्धा विश्वास अनन्यता आदि के पूर्ण होने पर ही निर्भर करती है ।

इसी प्रकार वेद का पाठ, गायत्री मन्त्र आदि का जाप भी वेद एवं गायत्री के कल्याण के लिये लोग नहीं करते बल्कि अपने ही दोषों की निवृत्ति हेतु करते हैं । इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणी अपने रहने, खेती, व्यापार करने के उपकार पृथ्वी, तृषा (प्यास) बुझाने के लिये व खेती द्वारा अन्न उत्पन्न करने के लिये जल को, भोजन पकाने के लिये अग्नि को, वस्त्र को सुखाने के लिये वायु को तथा आने जाने रूप अवकाश देने के कारण आकाश को चाहते हैं किन्तु इन पाँच भूतों के लिये पाँचो भूतों को नहीं चाहते ।

इस प्रकार पति, पत्नी, पुत्र, धन, पशु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देव, वेद तथा पृथ्वी आदि भूत ये सब भोग्य पदार्थ भोक्ता अपने आत्मा के लिये होने से ही प्यारे होते हैं । ये स्वरूप से किसी को प्रिय नहीं है ।

मालिक, नौकर आदि सब लोग अपने उपकार के लिये ही नौकर मालिक आदि को चाहते हैं । कोई नौकर मालिक के लिये मालिक की सेवा नहीं करता, न कोई मालिक नौकर के लिये नौकर को चाहता है । दूसरों का किया हुआ हमारे प्रति व्यवहार हमारे सुख के दृष्टिकोण से नहीं होता और हमारे द्वारा किया गया दूसरों के प्रति व्यवहार उनके सुखार्थ नहीं होता बल्कि सब अपने-अपने आत्मा के सुख हेतु ही करते हैं ।

हे मैत्रेयी ! यहाँ तक समझलेना कि संसार के परोपकारी कहलाने वाले लोग भी स्वार्थी हैं । तुलसी दास भी मानस में लिखते हैं -

स्वारथ लाग करही सब प्रीति ।
सुर नर मुनिजन की यह रीति ।।

जहाँ दूसरों के दुःख को देख कर लोगों में दया, सेवा, दीखती है वहाँ उनके हृदय में जो एक काँटा सा चुभता रहता है । उसे निकालाने के लिये ही वे परोपकार में प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि परोपकार किये बिना उनके जी की जलन शान्त नहीं होती । पर ऐसे लोग बुरे होते हैं इसका यह तात्पर्य नहीं मान लेना चाहिये । किन्तु यह भी भ्रम में नहीं रहना चाहिये कि वे दूसरों के लिये कुछ कर रहे हैं । नहीं सब अपने आत्म सुख के ही भोगी हैं । संक्षेप में यह है कि आत्मा अतिशय प्रिय है । शेष आत्मा के भोग के साधन बने हुए पदार्थ प्रिय है । इससे भिन्न ब्याघ्र, सर्प, शत्रु, द्वेष तथा अनावश्यक पदार्थ उपेक्ष्य है । यही लोक में व्यवस्था है तथा याज्ञवल्क्य का भी मत है ।

प्रश्न - १६५ : निजात्मा में जो प्रीति है क्या वह राग है ? श्रद्धा है ? भक्ति है या इच्छा है ?

उत्तर : निजात्मा में जो सबकी प्रीति है वह न राग है, न श्रद्धा है, न भक्ति है, न इच्छा है, क्योंकि राग को प्रीति माने तो उस राग का अपनी बधु आदि के साथ अतिव्याप्ति दोष आता है । श्रद्धा माने तो यज्ञादि में भी श्रद्धा होने से वहाँ भी अतिव्याप्ति दोष आता है । भक्ति मानें तो गुरुदेव आदि इष्टों के साथ आत्मा की प्रीति की अतिव्यप्ति दोष उत्पन्न होता है । और इच्छा मानें तो अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति में ही इच्छा संभव होती है अन्य में नहीं । इस प्रकार इन चारों की अन्वयता नहीं है ये चारों व्यतिरेकी हैं । सबमें न सबका राग है, सबमें न सबकी श्रद्धा है, सबमें न सबकी भक्ति है और सबको न सबकी इच्छा है । अतः यह अपने आत्मा की प्रीति इन रागादि चारों से भिन्न सुख को विषय करनेवाली अन्तःकरण की एक सतोगुणी वृत्ति ही समझना

चाहिये । तथा अन्तःकरण की वृत्ति होने पर भी इच्छा से सर्वथा भिन्न है । क्योंकि इच्छा अप्राप्त वस्तु में होती है, प्राप्त होने पर नष्ट हो जाती है, किन्तु अपने आत्मा में प्रीति प्राप्त अप्राप्त तथा नष्ट सब काल में समान बनी रहती है । आत्मा में कभी अप्रीति का प्रस ही नहीं आता ।

प्रश्न - १६६ : रोगादि के समय या किसी अघटित घटना हो जाने के समय लोगों की इच्छा मर जाने के लिये भी तो होती है या नहीं ?

उत्तर : नहीं यह समझना उचित नहीं । जो रोगी या अन्य पुरुष जब कभी देहत्याग की इच्छा करता है वहाँ त्याज्य देह ही है देही आत्मा को नहीं समझना चाहिये, क्योंकि त्याग करने वाला जीव ही वह आत्मा है । और जो उसमें द्वेष त्याग आदि की भावना होती है वह अपने आत्मा के प्रति नहीं बल्कि देह के प्रति होती है । इससे उसके आत्मा की कोई हानि भी नहीं । फिर प्रायः सभी लोग तो जगत् में ऐसी ही प्राथना करते हुए एवं हृदय से इच्छा रखते हुए पाये जाते है कि ''मेरी सत्ता सदा बनी रहे'' । इससे अपने आत्मा में निरतिशय (जिससे ज्यादा कोई नहीं) प्रीति प्रत्यक्ष सिद्ध है ।

विषयाभिलाषी मनुष्य एक विषय सुख छोड़कर सदा दूसरे को अपनाता रहता है । परन्तु आत्मा तो त्याज्य या ग्रहण करने रूप है ही नहीं । अतएव अपने आत्मा में से किसी की प्रीति किसी भी समय न्यून नहीं होती । प्रेम के तारतम्यता का अनुभव -

वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिण्डः पिण्डात्त्थेन्द्रियम् ।
इन्दियाच्च प्रियः प्राणः प्राणादात्मा प्रियः परः ।।

धन से पुत्र अधिक, पुत्र से अधिक यह पिण्ड (देह), देह से अधिक इन्द्रियाँ, इन्दियों से अधिक प्राण, प्राण से अधिक मन और मन से अधिक आत्मा प्यारा है । (श्लोक में प्राण मन का ही प्रतीक है),क्योंकि मन आत्मा के प्रतिविम्ब का ग्राहक तथा इन्द्रियों का स्वामी है । इन्द्रियों के रोगी होने पर

मन उनके अभाव को भी चाहता है ।

प्रश्न - १६७ : जैसे अन्न जल देह प्राण के सुख के साधन हैं क्या आत्मा भी इसी प्रकार सुख का हेतु है ?

उत्तर : यदि आत्मा को भी अन्न, जल की तरह सुख का साधन मानेंगे तब यह तो बताओ कि उस आत्मा को सुख का साधन कौन बनावेगा ? आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई भोक्ता तो जगत् में है ही नहीं जो आत्मा उसके सुख का साधन बन सकेगा । अतः आत्मा किसी के भोग की वस्तु नहीं है जो सुख की साधन बन सके, आत्मा तो स्वयं भोक्ता है ।

विषयजन्य सुख में तो केवल प्रीति होती है, परन्तु अपनी आत्मा तो अति प्रिय निरतिशय प्रीति का विषय है । अतएब विषयजन्य सुख में तो यह प्रीति व्यभिचार कर जाती है । एक सुख में बैठकर दूसरे सुख की इच्छा कर वहाँ से टूट अन्य में जुड़ जाती है । परन्तु आत्मा में रहने वाली प्रीति कभी अन्य विषय को ग्रहण नहीं करती ।

अतएव आत्मा विषय सुख की भाँति भोक्ता के काम में आनेवाली वस्तु (उपकारक) नहीं है तथा अप्रिय वस्तु की तरह इसमें उपेक्षा भी संभव नहीं है, क्योंकि उपेक्षा करने वाले चिदात्मा का जो अबिनाशी स्वरूप आत्मा है वह स्वयं ही है । इस कारण अपने से भिन्न वस्तु की तरह इस आत्मा की उपेक्षा भी नहीं हो सकती तब त्याग हो ही कैसे सकता है ।

सुख और सुख के साधन पति, जाया, पुत्र, धन, लोक, देव आदि सबकी प्रीति आत्मा के लिये ही है । आत्मा की ही उपकारक है इसलिये आत्मा ही अतिप्रिय सिद्ध होता है । जैसे लोक में भी पिता को पुत्र के मित्र की अपेक्षा पुत्र ज्यादा प्यारा होता है और पुत्र से ज्यादा अपना शरीर, अपने शरीर से ज्यादा इन्द्रिय, इन्द्रियों से ज्यादा प्राण और प्राण से ज्यादा अपना आपा, आत्मा प्रिय होता है अधिक समीप होने के कारण ।

प्रश्न - १६८ : क्या तत्त्वज्ञानी में अपने प्रतिवादी हठी और ब्रह्म से

द्वेष करने वाले को शाप देने की सामर्थ्य होती है ।

उत्तर : तत्त्वज्ञानी के एक ही वचन से श्रद्धालु का कल्याण तथा अश्रद्धालु का सर्वनाश श्रुति तथा स्मृति आदि से प्रमाण मिलता है । योगेश्वर श्रीकृष्ण अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को कहते हैं -

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति मचिरेणाधिगच्छति ॥

- गीता : ४/३९

जो पुरुष शास्त्र एवं संत के वचनो में पूर्ण विश्वास के साथ श्रद्धा रख कर उस तत्त्व को प्राप्ति हेतु इन्द्रियों को संयम में रख कर तत्परता से ज्ञान की साधना करता है वह ज्ञान को अवश्य प्राप्त कर तत्क्षण परम शान्ति को प्राप्त होता है किन्तु -

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नाय लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

- गीता : ४/४०

जो भगवत विषय को न जानने वाला केवल गुरु से तर्क एवं अपने अनात्म पक्ष का हठ करने वाला ऐसे श्रद्धा रहित और संशय युक्त पुरुष परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है । और संशय युक्त होने के कारण न यहाँ का सुख भोग पाता है और न उसके लिये परलोक ही है अर्थात् वह दोनो ओर से भ्रष्ट हो जाता है । इसी अभिप्राय को पुनः गीता ९/३ में दुहराया है ।

अश्रद्द धानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्यु संसार वर्त्मनि ॥

अर्थात इस आत्मज्ञान को अतिशय प्रिय एवं श्रद्धा का विषय न कर इसमें अश्रद्धा करने वाला पुरुष शान्त स्वरूप को न पाकर मृत्यु रूप संसार चक्र में भ्रमण करते रहेंगे । आगे फिर शाप रूप से कहते हैं -

अथ चेत्वमहंकारन्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ।

- गीता : १८/५८

यदि अहंकार के कारण अपने इष्ट आत्मा में प्रीति के वचन नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायेगा । इसी अभिप्राय को श्रुति में भी कहा है - (यजुर्वेद के वृहदारण्यक उपनिषद के प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण के ८ वे मन्त्र में)

१) अपने आत्मा को ब्रह्मरूप समझने वाला ब्रह्मज्ञानी यदि किसी अनात्मदर्शी को याने अनात्म को प्रिय मानने वाले के प्रति यह कह दे कि तेरा प्रिय पुत्र, पत्नी, धन, जन नष्ट हो जावेगा तो ऐसा ही हो जाता है, क्योंकि वह समर्थ होता है । जो आत्मा रूप प्रिय की उपासना करता है उसका प्रिय व्यक्ति अत्यन्त मरणशील नहीं होता । यदि कहो कि आत्मज्ञानी समर्थ कैसे हो सकता है, सामर्थ्यता तो तपोवल से आती है तो उसका कारण यह है कि श्रुति में भी कहा है कि ब्रह्म को जानने वाला (ब्रह्मवेत्ता) ब्रह्म ही हो जाता है तथा अपने अनुभव से भी तत्त्ववेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है और ईश्वर ब्रह्म से भिन्न नहीं । अतएव विद्वान् ईश्वर ही हो जाता है ।

२) फिर माया विशिष्ट चेतन को जैसे सबके आत्मा के साथ अपना अभेद ज्ञान होने के कारण समष्टिपना और नित्य मुक्तपना है वैसे आत्मज्ञानी विद्वान् को भी सबके आत्मा के साथ अपने तादात्म्य (एकता) का ज्ञान होने से समष्टिपना और नित्यमुक्तपना सिद्ध ही है ।

३) माया विशिष्ट चेतन (ईश्वर) को जैसे निज स्वरूप का भान ब्रह्म रूप से होता है वैसे आत्मदर्शी विद्वान् को भी अपने आत्मा का ब्रह्मरूप से ज्ञान होता है । इस प्रकार गुण की समानता से भी आत्मज्ञानी ईश्वर है और इसीलिये वह अनुग्रह एवं शाप देने में समर्थ है, किन्तु वह ऐसे चमत्कार कभी दिखाता ही नहीं ।

अतः अपने आत्मा में ही प्रियतमता रखे एवं उसकी ही उपासना करे । जो जिज्ञासु आत्मा को ही सबसे अधिक प्रिय मानकर उसकी सेवा निरन्तर

करेगा उसका स्मरण करेगा, उसका प्रिय माना हुआ वह आत्मा प्रतिवादी के प्रिय माने हुए पुत्रादि की भाँति कभी नष्ट नहीं होता । परन्तु सदा आनन्द रूप हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि जिज्ञासु ने तो गुरु उपदेश से साक्षी रूप आत्मा को प्रियतम समझ लिया है । उसकी प्रियतमता वास्तविक है इसलिये वह कभी भी किसी भी निमित्त से नष्ट नहीं होते सर्वदा प्रतीत होती ही रहती है, किन्तु प्रतिवादी जिन पुत्रादि को प्रियतम माने बैठा है उसकी प्रियतमता व्यभिचारी होने के कारण नष्ट होने ही वाली है ।

इस प्रकार जिज्ञासु पुत्रादि विषयों में विद्यमान दोषों को जानकर उसमें प्रीति को छोड़कर अपने प्रत्यक् रूप साक्षी आत्मा में निरतिशय प्रीति का निश्चय कर सर्वदा उसी प्रत्यगात्मा का अनुसंधान किया करता है, क्योंकि वह परमानन्द रूप है । जो निरतिशय प्रेम का विषय होगा वही परमानन्द रूप होगा ।

प्रश्न - १६९ : परम प्रेम का स्थान होने के कारण आत्मा की परमानन्दता व मिथ्या आत्माओं का विवेक भले ही किया जावे तो भी योग के बिना इस विवेक से क्या होगा ?

उत्तर : जो विवेक करने से क्या मिलेगा यह कहते हों तो जो कुछ योग से मिलेगा वही इस विवेक से भी मिलेगा । यह हमारा श्रुति स्मृति के आधार से कहना है । योग द्वारा भी अपरोक्ष ज्ञान का अधिकारी बन कर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । कोई सीधे योग से ही नहीं होती है और गीता स्मृति में इस बात का प्रमाण भी है ।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।

- गीता : ५/५

सांख्य अर्थात आत्मा अनात्मा के विवेकी जिस मोक्ष स्थान को पाते हैं वही स्थान योगियों को भी मिलता है इस प्रकार ज्ञान द्वारा मोक्ष योगियों

और विवेकियों को बतलाया है । अधिकारी भेद से ही परमेश्वर ने जगत् के जीवों के कल्याण करने हेतु ज्ञान एवं योग दो मार्ग बनाये हैं । किसी अधिकारी के लिये योग असाध्य है । शरीर की पूर्ण स्वस्थता के अभाव में और किसी अधिकारी के लिये ज्ञान का निश्चय करना बुद्धि की मंदता के कारण असाध्य है । लेकिन वशिष्ठजी रामजी को कहते हैं हे राम । यदि मेरा मत इसमें जानना चाहते हो तो -

असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञान निश्चयः ।
ममत्वभिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञान निश्चयः ॥

- योगवशिष्ठ : ६/९/१३/८

मेरे मत से ज्ञानयोग ही सुसाध्य है, क्योंकि योग श्रमसाध्य है । उसमें देह प्राणादि की विशेष व्यवस्था आसन, मुद्रा आदि द्वारा करनी पड़ती है । जिस में गृहस्थ, रोगी, गर्भवती स्त्री, बच्चे, बुढ़े आदि का तो प्रवेश ही नहीं हो सकता, किन्तु यह ज्ञान योग कैसा है इसके लिये स्मृति का वचन प्रमाण है ।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्र मिद मुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥

- गीता : ९/२

यह ज्ञानयोग सब विद्याओं का राजा तथा सब गूढ़ तत्त्वों से भी अधिक गूढ़ एवं अत्यन्त पवित्र जो कभी योग भ्रष्ट एवं कर्मी की तरह विपरीत शरीर विकार रूप फल को नहीं देने वाला उत्तम प्रत्यक्ष फल को देने वाला धर्मयुक्त है । और साधन करने में सबके लिये बहुत ही सरल एवं अबिनाशी भी है । योग अभ्यास छूटने पर तो वह क्रियाएँ पुनः अभाव रूप हो जाती है । इसमें नाश का भय भी नहीं है ।

यदि कहो कि योगि को समाधि में द्वैत की प्रतीति नहीं होती है । तो इस प्रकार श्रुति युक्ति से अद्वैत तत्त्व का विवेक करते समय विवेकी को भी

द्वैत की प्रतीति नहीं होती एवं समय इस प्रकार आनन्द उल्लास पूर्वक व्यतीत होता है जैसे कोई सिनेमा, नाटक को देखने वाला समय को नहीं जान पाता, क्योंकि इतिहास दृष्टान्त, युक्ति, कथन में ऐसी एकाग्रता ज्ञानी को बिना योग का कष्ट किये स्वतः प्राप्त हो जाती है । व्यवहार काल में द्वैत की प्रतीति तो दोनों का होती ही है, किन्तु जैसा निश्चय द्वैत के देखने पर भी अद्वैत ज्ञानी का होता है याने या तो वह आत्मारूप से देखता है या मिथ्या रूप से । ऐसी दृष्टि योगि को प्राप्त नहीं होती, क्योंकि अभेद दृष्ट तो गुरु द्वारा तत्त्वविचार, तत्त्वोपदेश से प्राप्त होती है, योग से नहीं । योग से तो तत्कालिक आनन्द ही प्राप्त होता है । अत्यन्त मोक्ष तो ज्ञान से ही होता है ।

प्रश्न - १७० : ''आत्मा को ही जाना'' तथा विज्ञाता को कोई नहीं जान सकता यह श्रुति विरोध क्यों है ?

उत्तर : ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो'' - बृहद्.उप २/४/५

तथा येनेदम् सर्व विजानाति तं केन विजानीया द्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति । - बृह.उप. २/४/१४

या

''न विज्ञाते विज्ञातरं विजानीयाः''

- बृह.उप. ३/४/२

जो ऊपरोक्त श्रुतियों में विरोध सा प्रतीत होता है । किन्तु इस प्रकार के कथन से विरोध नहीं होता । ''वह दृष्टि का द्रष्टा है'' । इस प्रकार तो वह जाना जाता है जैसा कि याज्ञवल्क्यजी ने मैत्रेयी को कहा था । आत्मा ही देखने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य है । इसका तात्पर्य समझाते हुए ही आगे कहा है । तुम दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते, तुम श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते, मति के मन्ता को नहीं जान सकते । तुम्हारा यह आत्मा दृष्टि का विषय नहीं स्वयं द्रष्टा है, श्रवण का विषय नहीं, श्रोता है, मनन का विषय नहीं, किन्तु स्वयं मन्ता है, बुद्धि का विषय नहीं,

किन्तु स्वयं विज्ञाता है । (जानने वाला) है ।

- (३/८/१९)

इसके सिवा अन्य ज्ञान की अपेक्षा न होने के कारण भी श्रुति का आपस से विरोध नहीं है क्योंकि ऐसा ज्ञान होना ही उसे जानना है । याने द्रष्टा की दृष्टि नित्य ही है, ऐसा ज्ञान हो जाने पर उस दृष्ठि को विषय करने वाली किसी अन्य दृष्टि की अपेक्षा नहीं होती, बल्कि इससे तो द्रष्टा को जानने की आकांक्षा भी निवृत्त हो जाती है । क्योंकि वह जानने या देखने की वस्तु ही नहीं है जिसे आप इन्द्रिय प्रमाण से दृश्य रूप में कभी देख सके । जो वस्तु दृश्य ही नहीं उसका दीखना असंभव ही है । कोई भी दृश्यभूत दृष्टि द्रष्टा को विषय करने में समर्थ नहीं है । याने कोई भी इन्द्रिय प्रमाण से इन्द्रियों के द्रष्टा को नहीं जान सकते । श्री निश्चल दास जी कहते हैं -

''मति न लखै जिहि मति लखै''

अतः ''आत्मा को जानो'' इस वाक्य से अज्ञान आरोप की निवृत्ति का ही निरूपण किया गया है । आत्मा को इन्द्रियों का विषय करना नहीं बताया गया है । जिसने भी उसे जाना है वह इसीप्रकार जाना गया है कि ''मैं दृष्टि का द्रष्टा आत्मा हूँ'' । ऐसा समझने वाले वामदेव ने भी जाना ऐसा श्रुति से प्रमाण मिलता है । बृह. उप. १/४/१०

प्रश्न - १७१ : मिथ्या जगत् को ब्रह्मरूप किस प्रकार से कहा जाता है ?

उत्तर : तैतिरीय उपनिषद् के भृगुबल्ली के छठे अनुवाक का श्रुति वचन प्रमाण रूप है ।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ।
आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
आनन्देन जातानि जीवन्ति ।
आनन्दं प्रय्नत्याभिसं विशन्तीति ॥

आनन्द ही ब्रह्म है इस प्रकार निश्चय पूर्वक जानना, क्योंकि सचमुच आनन्द से ही वे समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द से ही जीते हैं, और इस लोक से अन्त समय में आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं । फिर यह जगत् अपने कारण भूत आनन्द ब्रह्म से पृथक् कैसे हो सकता है ? क्योंकि जो जिसका कार्य होता है वह उससे भिन्न नहीं होता है । जैसे मृत्तिका का कार्य घटादि मृत्तिका से भिन्न नहीं होता ।

छान्दोग्य उपनिषद् के २ अध्याय के २३ खण्ड के तीसरे मंत्र में कहा है कि -

ओंकार एवेद सर्वम्

यह सब दृश्यमान जगत् ओंकार स्वरूप ही है । किस द्रष्टान्त से ? जिस प्रकार शंकुओं (नसों) द्वारा सम्पूर्ण पत्ते व्याप्त रहते हैं उसी प्रकार ओंकार से सम्पूर्ण जगत् तथा वाणी है ।

ब्रह्मैवेदं सर्वम् - सब कुछ ब्रह्म ही जानो ।

गीता स्मृति का भी इसमें वचन प्रमाण है ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।

- १०/३२

अहमात्मा गुड़ाकेश सर्व भूताशय स्थितः ।
अहमादिश्च मध्यंच भूतानामन्त एव च ॥

- १०/२०

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।

- ७/७

वासुदेवः सर्वमिति ....

- ७/१९

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत ।

- १३/२

भावार्थ - सृष्टि मात्र का मैं आदि अन्त और मध्य हूँ ।

- गीता १०/३२

प्राणी मात्र का आदि मध्य और अन्त मैं हूँ तथा प्राणीयों के हृदय में स्थित मैं आत्मा हूँ ।

- गीता : १०/२०

मेरे से अधिक अन्य कुछ भी नहीं है । तागे में जैसे मोती पिरोये होते हैं उसी प्रकार यह सब जगत् मुझमें पिरोया हुआ है ।

- गीता : ७/७

यह सब वासुदेव ही है । - गीता : ७/१९

समस्त शरीरों में शरीरी (आत्मा) मुझको ही जान.ो ।

- गीता : १३/२

इस प्रकार श्रुति स्मृति प्रमाण से जगत् आनन्द ब्रह्म ही है ।

प्रश्न - १७२ : नाम-रूप मिथ्या जगत् सत्य क्यों प्रतीत होता है ?

उत्तर : इस शंका का समाधान वशिष्ठ गुरु ने रामजी को समझाया था वही वहाँ उद्धृत करते हैं ।

हे महाबाहु राम ! बालकों को बहलाने के लिये धाय एक मनोहर कहानी कहा करती है । कहीं तीन राजपुत्र रहते हैं । उनमें से दो तो पैदा नहीं हुए और एक गर्भ में ही नहीं आया । वे तीनों धर्म पूर्वक एक अत्यन्त असत् नगर में रहते हैं । वे भ्रान्त चित्त एक बार अपने शून्य नगर से निकल कर जा रहे थे कि आकाश में उन्होंने फलों से लदे पेड़ देखे । वे तीनों राजपुत्र आजकल भविष्य नगर में खरगोस की सींग का धनुष ले गगन पुरुष को

मारकर सुख से रहे हैं । हे राम ! घय ने जब सुन्दर बालकों को यह कहानी सुनाई तो वह सुनने वाला बालक भोली बुद्धि से इसे सत्य मान बैठा ।

हे राम ! सर्वत्र विद्यमान सदा प्रकाशमान देश काल वस्तु परिच्छेद रहित होने से महान स्वरूप वाला वह आत्मा जिस समय मनन शक्ति को धारण करता है, तब मन कहलाता है, और वह बन्ध, मोक्ष, नदी, पर्वत, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि भूतों की कल्पना कर लेता है । इस प्रकार वास्तविक न होते हुए भी यह जगत् की स्थिति काल्पनिक होते हुए भी विचार रहित पुरुषों के चित्त में बालकों की कहानी के समान दृढ़ता से जमगई है ।

जल में अधोमुख दीखने वाला भी मनुष्य वस्तुतः होता ही नहीं, क्योंकि ज्ञानी अज्ञानी किसी को भी उस छाया पुरुष में जल के किनारे पर खड़े वास्तविक पुरुष की तरह सत्य होने की आस्था कभी नहीं होती । बल्कि सब यही समझते हैं कि जल रूप उपाधि के कारण ही ऐसी मिथ्या प्रतीति हो रही है । इसी प्रकार सर्वकारण आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर विवेकी पुरुष इस जगत् को मिथ्या मान लेता है और कोई भी व्यवहार सत्य मानकर नहीं करता ।

प्रश्न - १७३ : अद्वैत मत में किसी प्रकार का निश्चय पुरुषार्थ माना जाता है ?

उत्तर : निर्विकार अद्वय, असंग, आत्मा में अज्ञानता के कारण जो धर्म आरोपित किये गये हैं उन आरोपित की असत्यता को जतलाने वाले बोध के होने में ही अद्वैतवादी पुरुषार्थ मानते हैं । अर्थात् आत्मा से भिन्न सबको मिथ्या समझ लेने पर अद्वितीय आनन्द की प्रतीति होना ही पुरुषार्थ है । जैसे घट बन जाने पर भी मिट्टी अपने मृद्रूप का त्याग नहीं करती । ऐसा मिट्टी का ज्ञान हो जाने पर घट को सत्य मानने वाली बुद्धि निवृत्त हो जाती है । और घट के प्रति सत्य बुद्धि का हट जाना ही पुरुषार्थ है । घट का स्वरूप से हट जाना या न दीखना ज्ञान नहीं है । इसी प्रकार आत्मा के जगत् रूप से बन

जाने या दीखने पर भी आत्मा अपना सत रूप का परित्याग नहीं करती । ऐसा जिसे ज्ञान हो गया है कि यह जगत् आत्मा का विवर्त है ''जो अपने कारण रूप को न छोड़ अन्य रूप में भासे उसे विवर्त कहते हैं '' जैसे वर्तन, अलंकार ।

इस प्रकार आत्मा का ज्ञान हो जाने पर जगत् को सत्य मानने वाली बुद्धि निवृत्त हो जाती है । जगत् से इस प्रकार सत्य बुद्धि का हटा लेना ही पुरुषार्थ है । जबतक पदार्थों के सत्य होने का संस्कार नहीं मिटता तबतक अद्वितीय आनन्द प्रकट नहीं होता ।

प्रश्न - १७४ : परिणामी तथा विवर्त में क्या भेद है ?

उत्तर : परिणामी उस पदार्थ को कहते हैं जो अपना पूर्व स्वरूप छोड़कर अन्य स्वरूप ग्रहण करले व पुनः अपने पूर्वस्वरूप को धारण न कर सके, जैसे दुध से दही । मिट्टी से घट, स्वर्ण से जेवर आदि जो अन्यथा रूप ग्रहण करते हुए तो दीखते हैं किन्तु ये अपने पूर्व रूप का परित्याग नहीं करते । इसलिये इन्हें अन्यथा रूप ग्रहण करने मात्र से परिणामी नहीं कह सकते । अतएव ये परिणामी नही विवर्त ही है ।

विवर्त वह पदार्थ कहलाते हैं जो अन्य रूप में प्रतीत होने पर भी अपने स्वरूप का त्याग नहीं करते । जैसे लोहा, पीतल-वर्तन, स्वर्ण-जेवर, मिट्टी-घट, तन्तु-पट आदि ये अन्य स्वरूप को प्राप्त होकर भी पूर्व रूप को नहीं त्यागते इसलिये विवर्त है । इसी प्रकार आत्मा का जगत् भी विवर्त है, क्योंकि जगत् रूप अवस्था को प्राप्त होकर भी आत्मा अपने पूर्व सच्चिदानन्द स्वरूप का त्याग नहीं करता । इसलिये जगत् ब्रह्म का विवर्त है परिणाम नहीं कह सकते, क्योंकि महाप्रलय के समय जगत् का अभाव है एवं ब्रह्म का सद्भाव है । यदि ब्रह्म का जगत् परिणाम होता याने जगत् रूप को प्राप्त हो जाता तो महाप्रलय में जगत् के लय हो जाने से ब्रह्म का ही लय हो जाता व पुनः सृष्टि की उत्पत्ति ही नहीं हो पाती । अतएव जगत् ब्रह्म का परिणाम

नहीं विवर्त है ।

प्रश्न – १७५ : निजानन्द के नित्य होने पर भी इसमें प्रतिक्षण हर्ष-शोक क्यों होता है ?

उत्तर : निजानन्द के नित्य स्थिर होने पर भी इसमें प्रति-क्षण जो हर्ष शोक प्रतीत होता है उसका कारण निजानन्द को ग्रहण करने वाला क्षणिक मन है । अतएव हर्ष-शोक मन से उत्पन्न होते हैं आत्मा के धर्म नहीं है । मन किसी भी पदार्थ को अधिक देर तक ग्रहण करने में समर्थ नहीं है और इच्छित पदार्थ को ग्रहण करने के क्षण स्थिर होकर निजानन्द का आभास ग्रहण कर फिर दूसरे वस्तु की इच्छा कर चंचल हो उस वस्तु को पाने हेतु शोकग्रस्त हो जाता है ।

प्रश्न – १७६ : तत्त्वज्ञानी जिज्ञासु को द्वैत का तिरस्कार करने को क्यों कहते हैं ?

उत्तर : मुमुक्षु नाम, रूपों की जितनी-जितनी अवज्ञा करता जावेगा उतना-उतना ही ब्रह्मतत्त्व का उसे दर्शन होता जावेगा । और जब कोई अधिकारी इस पूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म को अपनी बुद्धि से आत्मारूप से ही निश्चय द्वारा जान लेता है, तब फिर वह स्वयं नाम रूप को धीरे धीरे अवज्ञा करने लगता है । द्वैत अवज्ञा और ब्रह्म दर्शन के अभ्यास से अधिकारी को दृढ़ ज्ञान की प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है और वह जीवित अवस्था में ही मुक्त हो जाता है । यदि द्वैत की अवज्ञा उससे गुरु न करावे तो द्वैत में पूर्व का दृढ़ अभ्यास होने से वह द्वैत मूलक अभ्यास में पुनः आसक्त ही हो जावेगा एवं अद्वैत लाभ जो मुक्ति का एकमात्र हेतु है उसके परम लाभ से वंचित रह जावेगा । अतएव मुमुक्षु को द्वैत में आग्रह छोड़ कर अद्वैत में ही पूर्ण श्रद्धा विश्वास रखना चाहिये, क्योंकि द्वैत में भय श्रुति ने बताया है और फिर मिथ्या भी है तो उसमें आग्रह भी क्यों रहे ।

प्रश्न – १७७ : सब पदार्थ माया कृत होने पर भी जड़ चेतन भेद क्यो

? मुमुक्षु उसमें क्या निश्चय करे ।

उत्तर : आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, लोक, स्थावर, जंगम ये सब माया के विकार रूप कार्य है । तथापि जहाँ चिदाभास पड़ता है वह पदार्थ चैतन्य कहलाते हैं और जिसमें चैतन्य का प्रतिविम्ब नहीं पड़ता वे जड़ कहलाता है । परन्तु यह जड़-चेतन बिभाग बुद्धि का किया हुआ है, चैतन्य सामान्य ब्रह्म का नहीं है । वह तो सब पदार्थों में सच्चिदानन्द रूप से स्थित है, क्योंकि वह जड़-चेतन समस्त पदार्थों का उपादान है । समग्र कल्पना का आधार होने से ब्रह्म सर्वगत है । जैसे घटादि की उपादान भूत एक मिट्टी के पिण्ड को जान लेने से मिट्टी से बने सब पदार्थों का बोध हो जाता है । वैसे ही सबके उपादान एक ब्रह्म को जान लेने से उससे बने सकल जगत् का सच्चिदानन्द रूप से बोध हो जाता है । वस्त्र पर बने कल्पित चित्र की तरह ब्रह्मतत्त्व में नाम, रूप कल्पित है । नाम रूप की उपेक्षा करने पर सच्चिदानन्द ब्रह्म ही शेष रहता है । जड़ चेतन पदार्थों के केवल नाम, रूप ही भिन्न है किन्तु सभी जड़ पदार्थों में अस्ति, भाति, प्रिय तत्त्व समान है और जो अस्ति, भाति, प्रिय ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है वही एक देह में सच्चिदानन्द रूप आत्मा है ।

जैसे दर्पण मे अपना प्रतिविम्ब दीखने पर भी दर्पण में मनुष्य आसक्त नहीं होता । दर्पण के प्रतिविम्ब की उपेक्षा कर विम्ब स्वरूप अर्थात् स्वयं में ही आसक्त होता है । उसी प्रकार नाम, रूप की उपेक्षा करने पर उनसे मन हटा लेने पर ही सच्चिदानन्द ब्रह्म में अहंबुद्धि होती है । अतः चैतन्य के प्रतिविम्ब पड़ने व न पड़ने से ही एक ब्रह्म में जड़ चेतन का भेद चिदाभास द्वारा हो गया ।

प्रश्न - १७८ : बुद्धि के व्यवहार में लगे रहने पर भी साक्षी निर्विकार कैसे रहता है ?

उत्तर : बड़ी बड़ी नदियों में ऊपर पानी के बहते रहने पर भी जिस

प्रकार नीचे पड़ी भारी शीला स्थिर रहती है । वह पानी के चंचल तीव्र वेग से भी चलायमान नहीं होती ऐसे ही नाम, रूप में परिवर्तन होते रहने पर भी कूटस्थ ब्रह्म विकारी नहीं होता । अर्थात् बुद्धि द्वारा नाना प्रकार के शुभ-अशुभ कर्मों के करने पर भी उस बुद्धि का साक्षी निर्विकार आत्मा कभी भी विकारी नहीं होता । अथवा महान् प्रलयकारी वायु के बहने पर भी आकाश की कोई क्षति नहीं होती इसी प्रकार महान अनर्थकारी मन बुद्धि के चंचल होने पर भी उनका साक्षी आत्मा आकाशवत् अपने स्वरूप में अचल एवं निर्विकार ही रहता है ।

प्रश्न - १७९ : नाम, रूप जगत् तो दीखता है किन्तु उसका अधिष्ठान सच्चिदानन्द ब्रह्म क्यों नहीं दीखता ?

उत्तर : यह बात तो ऐसी ही विलक्षण है जैसे कोई कहे हम रात्रि में सब कुछ घर का सामान तो देख पाते हैं किन्तु प्रकाश नहीं दीखता । क्या बिना प्रकाश दीखे वस्तु दीख सकती है ? कभी नहीं । अथवा दर्पण को देखे बिना उसके भीतर की वस्तु नहीं दीखती याने जो भी दर्पण में अपना मुख देखता है तो दर्पण को प्रथम देखता है फिर अपना या अन्य वस्तु का उसमें दर्शन होता है । इसी प्रकार संसार के नाम, रूप आकृति को देखने के पूर्व जगत् के सभी मनुष्य ज्ञान ब्रह्म को देखते हैं, क्योंकि ज्ञान ने ही सब आकृतियों को धारण कर रखा है । जैसे सिनेमा के समस्त चित्रों के रूप में एक प्रकाश ही है । उसी प्रकार समस्त नाम, रूपों के आकार में एक ज्ञान प्रकाश ही है ।

प्रश्न -१८० : तत्त्वज्ञानी को सब भोगों की प्राप्ति बिना प्रयत्न ही कैसे मिल जाती है ?

उत्तर : बृहदारण्यक और तैतिरीय श्रुति में कहा है कि ज्ञानी संसार की समस्त कामनाओं को एक साथ प्राप्त कर लेता है । उसे अन्य अज्ञानियों की भाँति जन्म और कर्मों के सहारे भोग नहीं होते, बल्कि उसे तो सब भोग बिना ही क्रम के एक साथ प्राप्त हो जाते हैं ।

युवा, सुन्दर, विद्वान्, निरोग, स्थिर चित्त सेना वाले, धन, धान्य से पूर्ण, पृथ्वी के पालक तथा मनुष्यों को प्राप्त होने वाले सब भोगों से तृप्त सार्वभौम राजा को जो आनन्द प्राप्त हो सकता है उस आनन्द को निष्कामता के कारण ब्रह्मज्ञानी सहज में ही प्राप्त कर लेता है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानी की तृप्ति के समान लोक में अन्य किसकी तृप्ति होगी ? अर्थात् किसी की नहीं । फिर जगत् से लेकर ब्रह्मलोक के सभी आनन्द ज्ञानी को उपलब्ध ब्रह्मानन्द के एक अंश मात्र ही है ।

राजा को अनेकों साधनों को इकट्ठा करने में दुःख हो चुका होता है और भविष्य में नाश की आशंका भी बनी रहती है, किन्तु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ को ये दोनों चिन्ताएँ नहीं रहती । इसलिये तत्त्वज्ञानी का आनन्द सार्वभौम राजा से भी अधिक है । पुनश्च राजा तो अपने आनन्द से अधिक गन्धर्वानन्द को पा लेने की आशा लगाये रहता है । श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ को ऐसी कोई आशा नहीं रखनी पड़ती है । इसलिये भी वह श्रेष्ठ है ।

१०० सार्वभौम राजा के सुख मिलकर एक मर्त्य गन्धर्व के सुख के बराबर और १०० मर्त्य गन्धर्व के सुख मिलकर एक देव गन्धर्व के सुख के बराबर, १०० देव गन्धर्व के सुख मिलकर एक पितृो के चिरकाल वासी लोक के आनन्द के तुल्य है और १०० ऐसे लोकों का सुख एक आजान देवता सुख के तुल्य है । और १०० आजान देवता एक कर्मदेव के सुख के तुल्य है । ऐसे १०० कर्मदेव का सुख मुख्य देव के तुल्य है । ऐसे १०० मुख्य देवता का सुख एक इन्द्र के तुल्य है । ऐसे १०० इन्द्र का सुख एक बृहस्पति के सुख के तुल्य है । ऐसे १०० बृहस्पति का सुख एक प्रजापति के सुख के तुल्य है । और ऐसे १०० प्रजापति का सुख एक ब्रह्मा सूत्रात्मा के तुल्य है ।

इस प्रकार सार्वभौम राजा के सुख से ब्रह्मा (सूत्रात्मा) तक के गिनाये गये सब ही आनन्द श्रोत्रिय को मिलने वाले आनन्द से न्यून है । सब

क्रमशः अपने से बढ़े चढ़े उत्तरगामी आनन्द को चाहते हैं । परन्तु मन और वाणी से अगम्य यह आत्मानन्द उन सबसे बड़ा है । सबको मिलकर जितना सुख मिलता है अकेले श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी को निष्काम होने मात्र से उतना आनन्द बिना प्रयत्न मिल जाता है ।

फिर ज्ञानी अपने को आनन्दाकार बुद्धि का जैसे एक देह का साक्षी जानता है । उसी प्रकार सब देह की बुद्धि का साक्षी जानने से सब आनन्द उसके स्वतः हो जाते हैं । अर्थात् राजा आदि देहों को आनन्दाकार बुद्धि का भी अपने को साक्षी विवेक द्वारा जान उन सभी देहों में भोगों को भोगता है ।

किन्तु अज्ञानी इस रहस्य को नहीं जानता कि मेरा आत्मा सब देहों की बुद्धि का साक्षी है । इसलिये बेचारा ज्ञानी को सहज प्राप्त होनेवाली तृप्ति के सुख से अज्ञानता के कारण वंचित रह जाता है । क्योंकि -

''यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ।''

- तैतिरीय ब्र.१

इस तैतिरीय श्रुति वाक्य में भी यह बताया है कि जो पंचकोश रूपी गुहा में स्थित इस तत्त्व को जानते हैं, उसी की सब कामनाएँ पूरी होती है । स्मृति में भी कहा है कि -

यावानार्थ उदःपाने सर्वतः सप्लुतोद के ।
तावन्सार्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

-- गीता : २/४६

अर्थात् चारों तरफ से भरे हुए महान जलाशय के प्राप्त हो जाने पर समस्त छोटे-छोटे जलाशय का कार्य एक ही जगह सिद्ध हो जाने पर उन छोटे-छोटे जल के स्थानों से कोई भी जल के इच्छुक व्यक्ति का प्रयोजन नहीं रहता । उसी प्रकार वेद में कहे नाना कर्म एवं उपासना के फलों से ब्रह्मज्ञानी का उतना ही प्रयोजन रहता है । अर्थात् ब्रह्मानन्द प्राप्त ज्ञानी वेद में

कहे कर्म एवं उपासना के सभी फलों को नाशवन्त जान छोड़ देता है । अतः जबतक इस प्रकार का विद्यादनन्द का उद्‌भव (उत्पत्ति) नहीं हो तबतक श्रवण, मनन आदि का अभ्यास करना योग्य है । विद्यानन्द का उद्‌भव भी ब्रह्माभ्यास की पूर्णता का चिह्न है ।

प्रश्न - १८१ : ज्ञानी को आगामी बन्धन क्यों नहीं होता ?

उत्तर : जैसे कमल के पत्ते पर पानी नहीं जमता इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी को ज्ञान होने के पश्चात आगामी कर्मों का सम्बन्ध नहीं होता । जैसे काँस की रुई एक क्षण में जल कर भस्म हो जाती है, इसी प्रकार ज्ञानी के संचित् कर्म ज्ञान से तत्क्षण दग्ध हो जाते हैं ।

ज्ञानी को अहंकार युक्त भावना नहीं रहती तथा कर्म फलों में आसक्ति नहीं होती । इसलिये वह कर्म भोग का भागी नहीं बनता । कौषितकी उपनिषद में उक्त अर्थ का समर्थन करते हुए कहा है कि माता-पिता का बध, चोरी, गर्भपात, पर स्त्री गमन या अन्य कोई जगत में महान पाप कर्म हो जाने पर भी ज्ञानी की मुक्ति का नाश नहीं कर सकता ऐसे भयंकर पापों से भी ज्ञानी के मुख की कान्ति नष्ट नहीं होती ।

प्रश्न - १८२ : विषयानन्द को ब्रह्मानन्द का अंश क्यों माना जाता है ?

उत्तर : जैसे दर्पण में दीखने वाला प्रतिविम्ब विद्यमान मुख विम्ब को यथायोग्य जानने का साधन होता है । वैसे ही वृत्तियों से प्रतीत होने वाला प्रतिविम्बित विषयानन्द विद्यमान ब्रह्मानन्द को यथायोग्य सच्चिदानन्द रूप में जानने का साधन है । विषय इच्छुक व्यक्ति को विषय लाभ से अन्तर्मुख हुई वृत्तियों में पड़ा हुआ विम्ब रूप ब्रह्मानन्द का प्रतिविम्ब विषयानन्द कहलाता है । इस विषयानन्द का अनुभव करके ही पामर जीव ब्रह्मानन्द के पाने की इच्छा से पुरुषार्थ करते हैं । अर्थात संभोग से समाधि की और उन्मुख होते हैं । श्रुति ने कहा है जो अखंड एकरस आनन्द हैं वही परमानन्द

की छोटी सी मात्रा को भोगते हैं । स्मृति में भी कहा है -

सच्चिदानन्द घन ब्रह्म के अंश मात्र से यह सारा जगत् सुखी होकर स्थित है ।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

- गीता : १०/४२

प्रश्न - १८३ : सर्वव्यापी सच्चिदानन्द ब्रह्म का सब पदार्थों में एक समान प्रतिविम्ब क्यों नहीं पड़ता ?

उत्तर : इस बात को समझने के लिये विषयानन्द की प्राप्ति की उपाधि अन्तःकरण की वृत्तियों का बिभाग जानना होगा ।

१) शान्त, घोर तथा मूढ़ मन के ये तीन प्रकार की वृत्तियाँ है । इसमें वैराग्य क्षमा, उदारता, प्रेम, धैर्य, दया आदि शान्त वृत्तियाँ है ।

२) तृष्णा, स्नेह, राग तथा लोभ, काम, क्रोध, मोह आदि घोर वृत्तियाँ है ।

३) संमोह भयादि मुढ़ वृत्तियाँ है ।

ऊपरोक्त तीनों प्रकार की वृत्तियों में ब्रह्म का चित् स्वभाव तो सब में प्रतविम्बित हो रहा है । हाँ शान्त वृत्तियों में चेतनता के साथ-साथ आनन्द भी प्रतिविम्बित होता है ।

जैसे यह सूर्य स्वयं एक है परन्तु जल पात्रों के भेद से अनेक सा प्रतीत होता है । इसी प्रकार स्वयं प्रकाश आत्मा एक ही है । परन्तु माया उपाधि से शरीरों के अनुसार आत्मा भिन्न सा होता दीखता है । श्रुति कहती है एक ही भूतात्मा भूत-भूत में व्यवस्थित है । वह तालाब और घटों के जल में प्रतिविम्बित चन्द्रमा की भाँति ईश्वर रूप से तो एक और जीव रूप से अनेक दीखता है । मैले जल में तो चन्द्रमा अस्पष्ट दीखता है । और निर्मल जल में स्पष्ट दीखता है । ठीक इसी प्रकार ब्रह्म भी शुद्ध एवं अशुद्ध वृत्तियों में दो

प्रकार का हो जाता है ।

घोर और मूढ़ वृत्तियों में तो मलिनता के कारण ब्रह्म का केवल चिद् अंश का ही प्रतिविम्ब पड़ता है । एवं सुख अंश छिपा रहता है ।

तथा शान्त वृत्तियों में चित् व आनन्द दोनों का प्रतिविम्ब पड़ता है । जैसे लकड़ी में उष्णता और प्रकाश दोनों उद्भूत हो जाते हैं । इसी प्रकार शान्त वृत्तियों में सुख और चैतन्य दोनों उद्भूत हो जाते हैं । घोर और मूढ़ वृत्तियों में तो सुखानुभव होता ही नहीं है । जब किसी को उसका चाहा पदार्थ मिल जाने की आशा होती है तो थोड़ा सुख मिल जाने पर जो शान्त हर्ष वृत्ति उत्पन्न होती है उसमें बड़ा सुख मिलता है । काम्य पदार्थ (इच्छित पदार्थ) के भोग में उससे भी अधिक सुख होता है । इच्छा के अभाव रूप वैराग्य में अधिक से अधिक अर्थात् निरतिशय (जिससे बड़ा कोई नहीं ऐसा) सुख होता है । इसी प्रकार क्षमा तथा उदारता में क्रमशः क्रोध और लोभ के निवारण से भारी सुख होता है ।

जहाँ कहीं जो सुख होता है वह सब प्रतिविम्ब होने के कारण ब्रह्मतत्त्व ही है । अर्थात् ब्रह्मानन्द का एक अंश ही है । जब वृत्तियाँ अर्न्तमुख हो जाती है तब उनमें ब्रह्म का निर्विघ्न प्रतिविम्ब पड़ता है ।

प्रश्न - १८४ : सर्वत्र ब्रह्मानुभूति मूढ़ व्यक्ति किस प्रकार करे ?

उत्तर : सत्ता, चैतन्य और आनन्द ये तीन ब्रह्म के स्वभाव हैं । मिट्टी और पत्थर आदि में तो ब्रह्म की सत्ता ही व्यक्त होती है । शेष दो स्वभाव चैतन्यता और आनन्दता की अभिव्यक्ति नहीं होती ।

घोर और मूढ़ वृत्तियों में ब्रह्म के दो ही स्वभाव सत्ता तथा चैतन्यता व्यक्त होते हैं और शान्त वृत्तियों में तीनों स्वभाव व्यक्त हो जाते हैं ।

शिला आदि में नाम और रूप दोनों को छोड़ कर सत्ता मात्र का चिन्तन करे । घोर और मूढ़ वृत्तियों में दुःखभाग को छोड़कर ब्रह्म के सत्, चित् रूपों का चिन्तन करें । इसी प्रकार शान्त वृत्तियों में ब्रह्म के सत्-चित्

और आनन्द इन तीनों रूपों का ध्यान करें । मन्दमति पुरुष के लिये व्यवहार काल में भी ब्रह्मानन्द का लेशानन्द विषयानन्द से ब्रह्म चिन्तन करने की यह प्रक्रिया है । जो मन्दमती वृत्ति आदि जगत् को छोड़कर शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म का ध्यान नहीं कर सकता वह वृत्तियों द्वारा मिलने वाले विषयानन्द में ही सच्चिदानन्द का धीरे-धीरे ध्यान करता है । अभ्यास द्वारा फिर वह शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म को जान सकेगा । इसलिये उसे विषयानन्द द्वारा ब्रह्मानन्द लाभ कराने हेतु यह मिश्र ब्रह्म के चिन्तन को श्रेष्ठ बतलाया है ।

उदासीन अवस्था में बुद्धि वृत्ति के शान्त हो जाने पर वासनानन्द में जो ध्यान बिना वृत्ति का है वह तीनों ध्यान में सर्वोत्तम है ।

ज्ञान और योग के द्वारा जो ध्यान बताये हैं वह ध्यान नहीं, वह तो ब्रह्म विद्या ही है । ध्यान करते-करते चित्त के एकाग्र हो जाने पर यह ब्रह्मविद्या स्थिर हो जाती है । अर्थात् जीव ब्रह्म एकत्व बोध दृढ़ हो जाता है ।

ज्ञान में ब्रह्म के सत् चित् आनन्द तीनों स्वभाव अखंड एकरस रूप ही दीखने लगते हैं । तीनों पृथक् पृथक् नहीं दीखते, क्योंकि भेदक उपाधियाँ हट चुकी होती है । इसलिये यह ध्यान उन ज्ञानीयों का ब्रह्मविद्या ही है । मन्दाधिकारी लोग विषयानन्द द्वारा ही ब्रह्मानन्द में धीरे-धीरे प्रवेश करे, किन्तु निराश न होवें । क्योंकि शान्त और घोर वृत्तियाँ और शिला पाषाण आदि पदार्थ भेदक उपाधियाँ मन्द अधिकारी के मन में विद्यमान है । इन उपाधियों का जबतक निवारण विवेक ज्ञान द्वारा नहीं होगा तबतक पूर्ण रूप से ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वभाव को उसे प्रतीति नहीं होगी । अतः बुद्धि को ध्यान द्वारा सूक्ष्म बनावें । सारांश यह है कि स्ववंप्रकाश अद्वैत उपाधि रहित ब्रह्मतत्त्व के भासने लगने पर त्रिपुटी रहित ''भूमानन्द'' कहा जाता है ।

प्रश्न - १८५ : मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ ऐसी ब्रह्माकार वृत्ति सर्वदा क्यों नहीं रह पाती ?

उत्तर : ब्रह्माकार वृत्ति सर्वदा नहीं रह पाती इस अवस्था को जिसने जाना तथा ब्रह्माकार वृत्ति के होने को जिसने जाना वह साक्षी चैतन्यात्मा तू है । इस प्रकार की बुद्धि वृत्ति सर्वदा बनी रहे ऐसे अन्तःकरण के धर्म में आग्रह करना कर्त्तव्य नहीं है ।

याद रखो वृत्ति की स्थिरता कभी सम्भव नहीं है चाहे जितना प्रयत्न कीजिये, वृत्ति यदि स्थिर होगी तो चंचल भी होगी । शास्त्र एवं संसार में आज तक ऐसा साधना या उपाय नहीं देखा गया कि जिससे वृत्ति एक जैसी बनी रहे । ऐसी अवस्था में सुख-दुःख से छुटने का उपाय है अपने असंग एवं साक्षी स्वरूप का निश्चय रूप का अवलम्बन मात्र ।

तुझ अनन्त आनन्द सागर की अन्तःकरण की समस्त प्रकार की शुभाशुभ वृत्तियाँ तो तरंग मात्र है जो उठती है, बैठती है टकराती रहती है । उसमें तुझ अधिष्ठान सागर की क्षति नहीं । उसे रोकने में किंचित भी कर्तव्य नहीं है । समझना यह है कि अन्तःकरण की कोई अवस्था मेरी नहीं है । फिर यदि कोई भी स्थिति प्राप्त होगी या कोई भी स्थिति बनाये रखना चाहते हो तो वह कहाँ पर होगी ? जीवात्मा तो नित्य पूर्ण आनन्द स्वरूप है । उसमें तो होगी नहीं, अब रहा अन्तःकरण उसी में ही होगी । यदि सूक्ष्म शरीर तुम्हारा दृश्य एवं मिथ्या जानने में निश्चय में आ गया तो अन्तःकरण की किसी भी वृत्ति में आग्रह रखने का तुम्हारे लिये प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता । तत्त्वज्ञानी हेतु वृत्ति स्थिर करने के सम्बन्ध की समस्त चेष्टा श्रम मात्र ही है ।

साधक जबतक अन्तःकरण को विशेष प्रकार का बनाना चाहता है तबतक वह धर्मात्मा, भक्त, साधक, योगि, भले ही हो जावे; किन्तु वह तत्त्वज्ञ नहीं है । वहाँ तक उसका वेदान्त सम्बन्धी ज्ञान अधूरा है । तत्त्वज्ञ की दृष्टि में तो मैं देह अन्तःकरण आदि नहीं बल्कि मैं ब्रह्म हूँ, व्यापक हूँ ऐसा ही निश्चय होता है । तो फिर सृष्टि के अच्छे बुरे सब जीव मैं ही हूँ । अथवा यह

कुछ नहीं है केवल यह ज्ञान मात्र है । सिनेमा में यदि प्रकाश अपने स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चय करने निकले तो उसके लिये दो ही मार्ग है । सिनेमा के पर्दे पर दीखने वाले सब चित्र मेरे ही हैं या ये कुछ नहीं है । केवल मैं शुद्ध प्रकाश मात्र ही हूँ । प्रकाश हेतु इससे अन्य विचार भ्रांन्ति मात्र ही होंगे । अतः जगत् रूपी पर्दे पर दीखने वाले समस्त दृश्य मैं ही हूँ या यह दृश्यमान् जगत् नहीं है, मैं ही केवल शुद्ध ज्ञानानन्द मात्र हूँ । यही दो निश्चय तुझ आत्मा के हो सकते हैं । इससे किंचित भी अन्यथा विचार करना भ्रान्ति मात्र ही होगा ।

हे आत्मन् ! जिसे चित्त की वृत्ति एकाग्र करने पर सुख प्राप्त होता है और विक्षिप्त होने पर दुःख प्राप्त होता है वे उसे स्थिर करे या न करें परन्तु तू असंग चैतन्य रूप आकाश को वायु रूप मन के चंचल एवं स्थिर होने से हर्ष या शोक नहीं । वायु रूप मन को भले सुख-दुःख चंचलता एवं स्थिरता हो अथवा न हो किन्तु तुझ सर्वदा असंग आकाश रूप आत्मा में किसी भी प्रकार की चिंतावस्था से किंचित भी सुख-दुःख नहीं है । जो वायु रूप मन के चंचल तथा स्थिरता से आकाश रूप तुझ आत्मा में हर्ष-शोक मानें तो यह ज्ञानियों की दृष्टि में हंसी का ही विषय है । भ्रम वाला पुरुष कभी सुखी नहीं होता है । ज्ञानी की देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण एवं उनके धर्मों में अहंबुद्धि या विपरीत बुद्धि नहीं होती । गीता में भी स्वधर्म को श्रेष्ठ तथा इन्द्रिय रूप 'पर' धर्म में श्रद्धा याने अहंकार रखने वाले को भय की प्राप्ति रूप फल ही बतलाया है ।

जब गुरु उपदेश द्वारा अन्तःकरण को अपने से पृथक् जान लिया तो तुम्हारी अज्ञान ग्रन्थि छूट गई । अब कोटि कोटि वस्तुओं की इच्छा होती रहे, वृत्तियाँ नाना रूप में हो, शुभाशुभ संकल्प विकल्प उठावे तो भी उस दृढ़ निश्चयवान तत्त्वज्ञानी को कोइ बाधा नहीं । जिस ज्ञान तलवार से एकबार भली प्रकार अज्ञान का छेदन याने देहभाव की निवृत्ति हो गई वही अज्ञान पुनः ज्ञान को नष्ट नहीं कर सकता । जो लोग अन्तःकरण में इच्छा के

उदय से ज्ञान का नाश मानते हैं या भय मानते हैं उनका वेदान्त सम्बन्धि संस्कार ही ठीक नहीं है । वेदान्त प्रारब्ध से निश्चित व्यवहार में कोई हस्तक्षेप नहीं करता । स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता अध्याय ३ श्लोक ३३ में कहते हैं -

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानिवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।

सभी प्राणी प्रकृति के आधीन हुए अपने-अपने स्वभाववश कर्म करते हैं । ज्ञानवान भी अपनी पूर्वजन्म की प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है । फिर इसमें किसी का हठयोग क्या कर सकेगा ? याने कुछ भी चतुराई नहीं चल सकेगी ।

ज्ञान तो अविद्या (भ्रान्ति) का निवर्तक है । वह अन्तःकरण के धर्म में भाव-अभाव रूप परिवर्तन नहीं करता । न परिवर्तन किया जा सकता है । न परिवर्तन की आवश्यकता ही है ।

हे चिदात्मन ! ब्रह्मा सृष्टि रचते हैं, विष्णु पालन करते हैं, शंकर संहार करते हैं, जनक, राम, कृष्ण, अर्जुनादि युद्ध करते हैं, शत्रु को मारते हैं, अपराधी को दण्ड देते हैं, राज्य करते हैं, शत्रु से वचाव करते हैं, गृहस्थी होते हैं । अज्ञानियों को संत उपदेश करते हैं, उनके अपराध पर क्रोध कर दंड़ भी देते हैं । तो भी यह सब ज्ञानी थे या अज्ञानी ? क्या ऊपरोक्त कार्य से उनका ज्ञान नष्ट हो सका था ? यदि वे ज्ञानी थे तो फिर ऊपरोक्त सभी प्रवृत्तियों में उनकी वृत्ति सर्वदा समान ही रही होगी या चंचल ? क्या उनमें नाना प्रकार के संकल्पों का विचारों का इच्छाओं का उदय अस्त नहीं होता था ? बस इसी प्रकार सभी का मन चंचल होता ही रहेगा । तथापि यह सब धर्म चिदाभास के हैं । तुझ चैतन्य साक्षी आत्मा को स्पर्श नहीं करते ।

ज्ञानी की आत्मदृष्टि होने से याने एक अखण्डं आत्मसत्ता का ही दृढ़ निश्चय हो जाने से उसकी प्रत्यक् अवस्था समाधि ही कही जाती है ।

कहा है कि जिन तत्त्वज्ञानियों का आत्मनिष्ठा द्वारा देहाभिमान -

देहाभिमाने गलिते ज्ञानेन परमात्मनः ।
यत्र यत्र मनोयाते तत्र तत्र समाधया ।।

नष्ट हो गया है उनको समाधि लगाने की आवश्यकता नहीं रहती है । अज्ञानी समाधि लगाकर भी बाहर बना रहता है, उसकी द्वैत दृष्टि नहीं टूटती, जबकि ज्ञानी बाहर होकर भी समाधिस्थ ही बना रहता है । ज्ञानी भेद में भी अभेद आत्मा का ही सर्वत्र दर्शन करता रहता है । अब जिसे विक्षेप हो तथा भेद भासता हो वह उस भेद से भय करके हठ योग साध्य प्राणायाम करके वृत्ति को सुलाने का दुराग्रह एवं श्रमरूप कष्ट उठावे, किन्तु जिसके लिये सब आत्मा ही है उसे तो किसी से विक्षेप ही नहीं तो फिर समाधि का भी उसके लिये किंचित कर्तव्य नहीं । मैं हूँ यही स्वधर्म है । देहादि मैं हूँ ही परधर्म है ।

हे आत्मन् ! छोटी छोटी बातों को इतना नहीं पकड़ना चाहिये कि हम अपने मूल लक्ष्य आत्मस्वरूप को जान ही नहीं सके । मन में विक्षेप आ जावे तो उसके लिये ज्ञाननिष्ठा को मत छोड़ो । अपने साक्षी स्वरूप में ही स्थित रहो । जो भी आया है वह चला जावेगा । आपके कहने से भगाने से वह जावेगा भी नहीं । उसके लिये कर्तव्य मानना या चिन्ता करना अज्ञान मात्र है ।

यदि तुम साधन करके कुछ प्राप्त करना चाहते हो जो साधन से पूर्व तुम्हारे पास नहीं है, तो फिर ऐसे साधन से प्राप्त वस्तु नित्य नहीं होगी, सत्य नहीं होगी । वह फिर परिच्छिन्न, जड़, बिनाशी एवं दुःख रूप ही होगी । जब तुम कुछ करने पर मोक्ष मानते हो तो मोक्ष कर्म जन्य होने से फसल की तरह नाशवान होगा और दूसरी बात तुम प्राप्त वस्तु मोक्ष के कर्ता बन गये । यहाँ थोड़ा विचारो कि तुम कर्ता हो या द्रष्टा अकर्ता आत्मा ? यदि जीवनमुक्ति का आनन्द चाहते हो तो तुम भोक्ता बनगये । तो विचार करो कि तुम भोक्ता

हो या अभोक्ता आत्मा सोचो ?

यह ध्यान में रखें कि बुद्धि निरंतर ब्रह्माकार नहीं रह सकती । देखो व्यवहार काल में, विक्षेप काल में, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा अवस्था में वृत्ति ब्रह्माकार कहाँ रह सकेगी ? कैसे रहेगी ? इस प्रकार बुद्धि का आकार बदलता ही रहेगा । और बुद्धि को ब्रह्माकार बनाये रखने में बाध मानने वाले सदा दुःखी ही बने रहेंगे । फिर अन्तःकरण की कोई भी अवस्था तुम चाहते हो तो सूक्ष्म देह में अहंकार करके ही तो चाहोगे । कोई भी चाह व्यष्टि देह में मैं पने का अभिमान किये बिना तो होगी नहीं । यदि तुम सच्चिदानन्द, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त अपने को जानते हो तो उसमें अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्तादि नाम की न कोई वस्तु है न वृत्ति है । और तुम चित्त की अवस्था विशेष चाहते हो तो, तुम व्यापक ब्रह्म न होकर एक परिच्छिन्न (व्यष्टि) देह ही अपने को मानते हो ।

हे आत्मन् ! यदि गुरु उपदेश से यह निश्चय हो गया कि जगत् स्वप्नवत् मिथ्या है तब फिर उस जगत् से भिन्न तुम्हारा अन्तःकरण कहाँ है, जिसकी अवस्था हेतु दुःखी होते हो ? तुम्हारा दह अन्तःकरण भी तो जगत् के साथ मिथ्या हो गये । सब को मिथ्या कहकर अपने देह अन्तःकरण को सत्य मानना या कहना भ्रान्ति ही है । उसमें विश्वास करना ज्ञान नहीं अज्ञान ही है । अतः अन्तःकरण की कोई अवस्था मेरी नहीं है । उसकी किसी भी वृत्ति विशेष को बनाये रखने के लिये मेरा न कोई कर्त्तव्य है न प्रयोजन ही है । जैसे संसार में मक्खी, मच्छर, खटमल्, बाघ, सर्प, पशु, पक्षी, कीट-पतंग, देव-गन्धर्व व करोड़ों मनुष्य हैं, वैसे ही मेरी कही जाने वाली यह देह भी है । जब समस्त देह एवं जीवों की स्थिति से मेरा कोई प्रयोजन नहीं तब इस एक देह, एक अन्तःकरण से भी मेरा क्या प्रयोजन रहा ? अर्थात् कोई कर्त्तव्य नहीं कोई प्रयोजन नहीं । अन्य देह एवं उनके संकल्प से तुम साक्षी चैतन्यात्मा का जैसे किसी प्रकार की हानि-लाभ, सुख-दुःख एवं कर्तव्य नहीं वैसे ही यह एक देह के लिये भी समझ लो । सृष्टि के अनन्त जीवों की

तरह इस एक देह को भी विचार द्वारा उसी दृश्य में छोड़ दो । और जैसे उन अनेकों के मात्र साक्षी हो इसी प्रकार इस देह अन्तःकरण के भी तुम केवल साक्षी हो । इस एक देह को क्यों इतना कसकर पकड़ रखा है ? इस एक अन्तःकरण के लिये ही इतना आग्रह और चिन्ता क्यों ? परिच्छिन्न में अहंकार करना ही सत् से पृथक् होना है । सत् से सम्बन्ध जोड़ना ही उससे दूर होना है । सत्य का ध्यान करना ही उसे बाहर निकालना है ।

यदि ऐसा मानते हो कि जब हमारा मन संकल्प रहित अवस्था को प्राप्त हो जावेगा तब हमारा ज्ञान सिद्ध हुआ माना जायेगा । पर यदि ऐसा ही सत्य होता तो सुषुप्ति मूर्च्छा मरण में कोई संकल्प नहीं होते, फिर जड़, पाषाण, वृक्षों को तो किसीप्रकार की अहं वृत्ति, अहं स्फूरणा नहीं होती, तो क्या उनकी यह अवस्था पूर्ण प्रज्ञान रूप कही जावेगी ? । यह पेन ही देखो, क्या इसे कभी संकल्प होता है ? कितना इस जीवन में इससे लिखा गया एवं जाएगा पर इसको कुछ अहं नहीं है तो क्या ऐसी मोक्ष अवस्था आप भी चाहते हैं तो जड़ हो जाइये । वहाँ कोई भी वृत्ति, स्फूरण, अहं नहीं होगा यदि जड़ हुए बिना ऐसी स्थिति चाहते हो तो यह संभव नहीं होगा । जहाँ अपना होना या होश ही न हो वहाँ साधन या अवस्था किसलिये ? अतः निष्कर्तव्य रूप आत्मा ही अपना स्वरूप समझना चाहिये ।

यदि तुम किसी अवस्था विशेष को सत् मानते हो तो तुम सत् स्वरूप नहीं हुए । यदि तुम किसी अन्य वृत्ति को ज्ञान स्वरूप मानते हो तो तुम चैतन्य ज्ञान रूप नहीं हुए । यदि तुम आनन्द किसी अवस्था में या वृत्ति या वस्तु में मानते हो एवं उसके प्राप्त करने हेतु कामना, साधना करते हो तो तुम आनन्द नहीं हुए याने तुम्हारा सच्चिदानन्द रूप ज्ञान केवल कहने मात्र का है । केवल कहने के लिये है कि मैं सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा हूँ । किन्तु अनुभव में असत्, जड़, दुःख रूप ही मानते हो; जबकि अनुभव में सच्चिदानन्द ही होना था । अतः इस भ्रान्ति की निवृत्ति हेतु ही मुमुक्षु को सद्गुरु कहते हैं कि तू सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा है । तू अपने से पृथक् सत्, आनन्द की

कल्पना न कर, बल्कि तू ही वह है ''तत्त्वमसि'', ''वह तू ही है'' । यह कोई रटने हेतु मंत्र नहीं है कि इसे रात दिन तोते की तरह रटते रहें तो मुक्ति मिल जावेगी । यह सतचित आनन्द भी अपने स्वरूप को समझाने हेतु एक संकेत मात्र है । भ्रान्ति का निवर्तक मात्र है । आत्म निरूपण के समस्त नाम विशेषण द्वैत से मिश्रित है । यह सत्‌चित्‌ आनन्द भी आत्मा के पहचान करवाने हेतु कल्पित नाम दिया गया है । उपाधि तो केवल पहचान कराने हेतु ही होती है । वह कोई वस्तु नहीं होती ।

जिस अज्ञानी के मन में अपने आत्मा के प्रति असत्‌पने की भ्रान्ति थी उसे गुरु ने सत्‌ विशेषण देकर छुड़ाया । जड़ की भ्रान्ति को चित विशेषण से तथा दुःख की भ्रान्ति को आनन्द विशेषण कहकर निवृत्त किया । इस प्रकार सद्‌गुरु ने सत्‌ चित्‌ आनन्द रूप निज आत्मा को संकेत से समझाया । आत्मा कोई दृश्य पदार्थ तो है नहीं जिसे यह कहकर समझाया या बताया जा सके । जैसे रोग की निवृत्ति हेतु औषधि सेवन किया जाता है । जब रोग निवृत्त हो गया तब औषधि सेवन का भी प्रयोजन नहीं होता । औषधि भोजन या स्वास्थ्य नहीं है । इसी प्रकार आत्मा के प्रति असत्‌ जड़ तथा दुःखरूप की भ्रान्ति रूप रोग की निवृत्ति हेतु सदगुरु रूप वैद्य ने सच्चिदानन्द रूप टॉनिक्‌ या इन्जेक्सन दिया था । जैसे आत्मा के प्रति हुई भ्रान्ति रूप रोग छूटा वैसे ही मैं सच्चिदानन्द, सोऽहम्‌, शिवोऽहम्‌ हूँ यह नारा, यह औषधि, यह डकार भी बन्द हो जाती है । तब प्रश्न उठेगा कि स्वास्थ्य क्या है ? तो स्वास्थ्य यह है कि मैं तो इन समस्त विशेषणों, पदों, उपाधियों से मुक्त मन, बुद्धि के कथन, चिंतन, निश्चय से अगोचर हूँ । मेरे में सत्‌ चित्‌ आनन्द भी कल्पना है; क्योंकि ये विशेषण सापेक्षिक रखे हुए हैं । असत्‌ की अपेक्षा से सत, जड़ की अपेक्षा से चित तथा दुःख की अपेक्षा से आनन्द कहा है, किन्तु मेरा अपना स्वरूप तो समस्त उपाधियों से मुक्त अगोचर सत्ता मात्र है ।

''सर्वौपाधि विर्निमुक्तं सत्ता मात्र अगोचरम्‌''

हे आत्मन् ! यदि तुम अपने को केवल सत् ही माने बैठे रहोगे तो फिर तुमने अपने को पूरा नहीं आधा ही जाना क्योंकि तुम मिथ्या असत् को अपना होना नहीं मानते हो । तब मिथ्या असत् कौन है ? यदि पुण्य धर्म तुम अपने को मानते हो तो पाप एवं अधर्म कौन है ? यदि तुम अपने को चित एवं आनन्द ही मानते रहे तो फिर जड़ एवं दुःख कौन है ? क्योंकि यह सब विशेषण सापेक्षिक है । एक के होने से दूसरा स्वतः सिद्ध होता है । मैं के कहने से तू स्वतः सिद्ध ही है । अतः यह तो गुरु की महिमा ही है कि अनिवचनीय तत्त्व को संकेत द्वारा बोध करा देते हैं । किसी प्रक्रिया को गलत व सही नहीं कहा जा सकता है । सब प्रक्रियाएँ सही है एवं सभी गलत है । जिस प्रकिया से जिसे बोध हो जावे स्वरूप ज्ञान हो जावे उसके पक्ष में वही श्रेष्ठ है । समस्त प्रकियाएँ स्वरूप का बोध कराने हेतु ही होती है । जो गुरु प्रथम बहिर्मुखी जीव को अनन्त जगत् में से मन हटाने हेतु द्रष्टा एवं दृश्य का पृथक् पृथक् भेद करके समझाते थे, फिर वही गुरु आगे चलकर मुमुक्षु की दृढ़ अवस्था देख फिर द्रष्टा एवं दृश्य को भी बोध कराकर एक निज अखण्ड विभु आत्मा का ही बोध करा देते हैं ।

ज्ञान की पूर्ण अवस्था वही है जहाँ हमारे लिये ''ना'' करने जैसी कोई वस्तु शेष ही न रहे । ''यह मैं नहीं'', ''यह मैं हूँ'' यह तो प्रथम कक्षा का उपदेश है । अन्तिम अवस्था तो पूर्णता, अखण्डता, व्यापकता, अद्वैतता का निश्चय में है । विश्व का जितना भी इदम् (यह) है वह सब अहं (मैं) के रूप में ही है । यदि ''मैं'' ही नहीं तो ''यह'' कहाँ से सिद्ध होगा ? अतः अपनी पूर्णता, अखण्डता, व्यापकता का बोध ही वास्तविक बोध है । यह बोध भी बुद्धि वृत्ति को ही होगा । मैं तो इसके भी परे इसका भी साक्षी हूँ । यह भी एक वृत्ति बनगई कि मैं ''इसका भी साक्षी हूँ'' इस प्रकार नेति-नेति कहकर ही चुप होना पड़ता है, क्योंकि जो भी कहा जाता है वह मैं नहीं हूँ । उससे भी परे उसका ज्ञाता, द्रष्टा, प्रकाशक, ससंवेद्य, स्वयंप्रकाश हूँ ।

प्रश्न - १८६ : हमारा मन बहुत चंचल रहता है इसको कैसे वश

किया जा सकता है ?

उत्तर : प्रायः सभी मन की शिकायत लेकर प्रश्न किया करते हैं । पता नहीं सब क्या होना चाहते हैं ? द्रष्टा कभी दृश्य तो हो नहीं सकता । ज्ञाता कभी ज्ञेय नहीं हो सकता । ध्याता कभी ध्येय नहीं हो सकता । बहुत आश्चर्य है कि तुम चंचल हो या चंचल मन के साक्षी अचलात्मा हो ? यदि मुर्ख मन अनादि काल से अपना चंचलता का स्वभाव नहीं भूलता है तो तुम इतने ज्ञानी एवं वेदान्ती होकर भी अपने अचल आत्म स्वभाव को क्यों भूला देते हो ? क्या मन को कभी आत्मा की निन्दा या शिकायत करते सुना है कि आत्मा चंचल क्यों नहीं होता । तब फिर तुम्हें मन की शिकायत करना क्या शोभा देता है ?

मन से उपयोग लेते रहिये और उसके कार्य को, उसकी अवस्था को अपना होना न जानिये । फिर तुम्हें उसका धर्म सुख दुःख नहीं लगेगा । लगता तो अभी भी नहीं है, वही सब करता है और वही सब सुख दुःख भोगता है; किन्तु आप व्यर्थ ही बीच में चिल्ला रहे हैं कि मरे ! मरे ! बचाओ ! यह कैसा पागलपन है ? दब कोई रहा है, पिस कोई रहा है, आप देखने वाले होते हुए भी कह रहे हैं कि हाय ! मैं मर गया । खेलते बच्चे को चोट लगी और बच्चे के खुन बहते देखकर माँ छाति पीट रोने लगी, चिल्लाने लगी हाय ! मरगई । यही अज्ञानता है ।

ट्रेन, मोटर चल रही है डब्बे में कितनी आवाज है, किन्तु आप सोते रहते हैं, इन्जन की आवाज, पटरी पर पहियों की रगड़, किसी के ट्रान्जिस्टर की आवाज, किसी के बातों की गर्मागर्मी, पंखें की आवाज आपको दिक्कत में नहीं डालती आप मजे से सोते ही रहते हैं । यात्री अपने मंजिल पर पहुँच ही जाता है । उस रेल की आवाज बन्द करना नहीं चाहता जिसमें वह सफर कर रहा है; क्योंकि उसको बन्द करने की शिकायत करे तो उसकी यात्रा भी सफल नहीं हो सकेगी । इसी प्रकार बस आप भी मन को शरीर रूप गाड़ी

का इन्जन समझ लो जो जगत् रूप पटरी पर रगड़ खाता चल रहा है । गाड़ी खीचेगा तो आवाज होगी ही उसे कौन रोक सकता है । तुम यात्रा करना चाहते हो तो आवाज की तरफ से वृत्ति हटा लो व काम बना लो । रेड़ियो, पंखे चलते रहते हैं घरो में और हम रोजाना सुख की निंद में प्रवेश हो जाते हैं । उसका उपयोग भी लेते रहते हैं । और वृत्ति उधर से हटा लेते हैं । विचारो क्यो वे आपकी नीद में बाधा डालते हैं या नींद लाने में सहयोगि हैं ? संत कितनी सुन्दर कथा करते हैं, भैयाजी, माताजी नींद निकाल ही लेते हैं । गर्दन को झटके दे देकर दिखाते रहते हैं कि हम सोये नहीं है पर मस्त निंद आती है । कितनी जोर से ढोलक, हारमोनियम, मृदंग, झाँझ, पखावज, चिमटा, मटकी, कुटती, गर्जती गाते बजाते क्यों न हो किन्तु निंद के प्रेमी सो ही जाते हैं । तब क्या उन्हें वे ध्वनियाँ बाधक होती है या वे सहयोगी बना लेते हैं ? क्या नींद का प्रेमी कहता है कि शोर बन्द करो नीदं में बाधा पड़ रही है ।

हे आत्मन् ! मन जो भी करता है वह अपने अधिष्ठान से छुप कर तो कहीं बाहर जाता नहीं । सर्वदा साक्षीभाव में ही तो रहता है । बाहर जहाँ भी जाता है, किन्तु ड़ोर तो तुम साक्षी के हाथ में ही दे जाता है । तुम साक्षी से चोरी करके तो कभी नहीं जाता । जिस वक्त देखो वंह सदा हाजिर हजुर खड़ा हो जाता है । जिस क्षण उससे आप कोई काम लेना चाहते हैं वह ब्रह्माण्ड के किसी भी कोने में क्यों न विचरण कर रहा हो पर आप जैसे डोर खींचते हैं वह तत्काल् जहाँ का तहाँ काम छोड़कर खड़ा हो जाता है और आपके बताये हुए नूतन कार्य में बिना हाँ ना किये लग जाता है तब बताईये वह कहाँ चंचल है ? भला बच्चा अपने घर के आंगन में भी न खेले तो कहाँ खेले ? बच्चा तो फिर भी घर की दीवार के पीछे, अन्य के कमरे या घर में या घर में या कहीं गली में आपकी नजर चुराकर भाग जाता है, खेलने लग जाता है, गुम हो जाता है तब उसे ढुँढने हेतु सारे गाँव में खोजबीन करना पड़ता है, थाना पुलिस को सूचना लिखवाते हैं । कभी कोई बदमाश उठा ले गया होता है तो

शायद आपका जीवन भर भी न मिले । पर क्या कभी आप को इसी प्रकार अपने मन को भी खोजने हेतु निकलना पड़ा ? क्या उसे कभी बुलाने हेतु जोर-जोर से आवाज लगानी पड़ी ? क्या कभी आप उसे कभी पुकार-पुकार के थके ? क्या वह कभी भीड़ में कहीं गुम हुआ ? साथ छोड़े किसी के साथ ही लिया ? क्या जीवन में आपका एक क्षण भी वियोग हुआ ? क्या बिना आपके जानकारी के वह कहीं भागा ? क्या उसे आने में विलम्ब हुआ ? तब फिर वह जाता ही कहाँ है भैया जो उसकी शिकायत करते हो ? साक्षी के समक्ष बिके गुलाम की तरह, सच्चे सेवक की तरह हर समय तो हाथ जोड़े आज्ञा पालन हेतु आँखों की ओर टकटकी लगाकर बेचारा सदा देखता रहता है कि मालिक कब इशारा करे और मैं सेवा में लगुँ । सब आपको छोड़ छोड़ कर भागे हैं किन्तु यह तो सदा ढुंढ़ने में भी साथ रहता था ।

हे चिदात्मन ! मन जैसा सेवक मिलना बड़ा मुश्किल है फिर भी बेचारा सदा व्यर्थ ही बदनाम होता है कि मन बड़ा चंचल है, मन बड़ा बदमाश है, मन बड़ा पाजी है, मन बड़ा शैतान है । वह बेचारा चुपचाप अपनी सब ओर से निंदा सहन कर लेता है और मेरे पास आकर रोता है कि यह सब आपके प्रेमी साधक, संन्यासी, भक्त, जिज्ञासु, मुमुक्षु मुझे मिलकर मार डालना चाहते हैं । सबको मेरा होना अखरता है, खटकता है । सब मुझे जप, माला, ध्यान का दंड देकर परेशान तो करते ही है साथ ही सबके बीच सभा में अपने अन्य मित्र सम्बन्धियों के सामने भी मेरी निन्दा करते हैं, मेरा नाम लेकर अपमान कर देते हैं । तो आप ही बताईये गुरुदेव ! आत्मदेव ! मैं कहाँ जाऊँ ? मैं कहाँ जाकर मरुँ ? मैं कहाँ अपना मुहँ छिपाकर भाग जाऊँ; जहाँ आपका क्षेत्र नहीं हो ? सर्वत्र तो आपका राज्य है फिर भला अधिष्ठान को छोड़ अध्यस्त जावे तो कहाँ जावे ?

हे आत्मन् ! यह मन कितना भोला है, कितना सहिष्णु है, किन्तु तुम उसे देश निकाला देना चाहते हो । वह बेचारा तुमसे सब व्यवहार सह लेता है और यहाँ आकर वह अपना दुःख हलका करता है । मैं उसे सांत्वना देता

हूँ कि तुम वहाँ से थक कर घबराकर मेरे पास आ जाया करो कुछ दिन और सह लो जब पूर्णता का बोध हो जावेगा तब कोई भी मुमुक्षु, भक्त, जिज्ञासु, संन्यासी, तुम्हारी शिकायत व अपमान नहीं करेगा न तुम्हें प्राणायाम के क्रुस पर लटका कर फाँसी देगा । फिर वह बेचारा मेरी बात मान धैर्य रख कर पुनः आपकी सेवा में लग जाता है और उतनी ही श्रद्धा विश्वास से सब हरकत सहकर भी सेवा करता रहता है । सब निन्दा एवं अपमान वह बेचारा इस प्रकार सहन कर लेता है, जैसे उसके सम्मुख आप किसी अन्य को ही निन्दा कर रहे हो और वह चुपचाप सुन रहा है । आखिर तुम सदा उसी के पीछे पड़े रहते हो कि हमारा मन ऐसा करता है, हमारा मन वैसा करता है आदि ।

हे आत्मन् ! यह प्राणायाम कुंभक आदि साधन करके आखिर क्या तुम उसकी हत्या करने पर तुले हो ? उसका जीवन तुम्हें क्यों चुभता है ? आश्चर्य है आँख खुलती है, बन्द होती है, नासिका श्वाँस लेती छोड़ती है । अपान वायु मल, मुत्र का त्याग करती है । शरीर में भूख-प्यास लगति है । रक्त संचार सर्वदा होता है, पाचन क्रिया सर्वदा होती ही है । हाथ पैर हिलते, उठते, चलते, दौड़ते हैं । त्वचा भी अनुकूल, प्रतिकूल, ठण्डा-गर्म, कड़ा, गुदगुदा का अनुभव रूप क्रिया होती ही रहती है । इस प्रकार तुम्हारे राज्य में सबकी ही अपनी अपनी धर्म में वर्तने की पूर्ण स्वतन्त्रता है । देखो कर्ण के भी दो दरवाजे हैं, खुब अच्छी बुरी सुनता है दीवार से कान लगाकर, पर आप किसी को नहीं रोकते, किसी के कार्य को बन्द करना नहीं चाहते । सभी को मुक्त निहारी बना रखा है । तब फिर एक मन को ही क्यों देश निकाला या प्राणायाम, समाधि आदि साधनों द्वारा फाँसी की सजा देकर मरवाना चाहते हैं ? उसे ही क्यों ध्यान की कैद में डालना चाहते हैं ? क्या आपकी अयोध्या नगरी के सब लोगों (इन्द्रियों) को स्वतन्त्र देख उसी नगरी में स्थित मन को स्वतन्त्र होने की इच्छा नहीं होती होगी ? आप रामराज्य चाहते हैं या रावण राज्य ? रामराज्य तो यही है कि सब लोग अपने-अपने धर्म कर्म में बर्तते रहें । किसी के जीवन में बाधा न पहुँचावें, दखल न

करें । रावण राज्य में ही सब को गुलाम बनाकर रख छोड़ने की प्रथा थी । देवता भी उसकी दासता से मुक्त होना चाहते थे तभी राम को रावण राज्य की इति करनी पड़ी ।

हे आत्मन् ! तुम लोगों को इतना वेदान्त का सत्संग मिला उसका क्या लाभ उठाया ? संत गुरु शास्त्र के बचन में तुम्हें कहाँ विश्वास हुआ ? तुम्हें तो उन्होंने सच्चिदानन्द आत्मा व्यापक, असंग, द्रष्टा, साक्षी, कूटस्थ, अकर्ता, अभोक्ता, निर्विकार, अखंड रूप बताया, जनाया पर तुमने उनके वचनों में श्रद्धा नहीं की । तुम तो बस मन के पीछे पड़े हो जो कि तुम नहीं हो । उसे स्मरण करने में उतना तुम्हारा आग्रह नहीं रह गया है जो कि तुम हो । कितने शरम की बात है कि चक्रवर्ती राजा होकर भिखारी के साथ बैर ठानते हो । वह बेचारा तुम से माँगकर खानेवाला जीवन निर्वाह करने वाला भला उससे तुम्हें क्या आक्रमण का भय हो सकता है ? जो उससे दुशमनी ठान रखी है । जिधर से देखो उधर से बस एक इस बेचारे मन की ही शिकायत हो रही है ।

आश्चर्य है कि आँख की शिकायत कोई नहीं करता कि हमारी आँख बहुत चंचल है, बहुत विकारी है, सब सुन्दर उपायोगी दृश्य अन्दर घुसा ले जाती है, जिससे फिर मन को सोचने हेतु मजबुरन विकारी होना पड़ता है । अतः हमारी आँख से कुछ न दीखे या हमारी आँख बन्द हो जावे ऐसी चाह कोई नहीं करते । प्राण की शिकायत भी कोई नहीं करते कि वह दिनभर आता जाता है । बड़ी गडबड़ २१६०० बार थोड़ा भी नहीं । इसे बन्द करदो हमेशा के लिये । ऐसा भी कोई शिकायत नहीं करता है कि मल मूत्र रोज क्यों आते हैं, क्यों नहीं बन्द हो जाते ? बोलो चाहते हो आँख का बन्द होना, प्राण का बन्द होना, मल मूत्र का बन्द होना, तब तो नहीं क्यों ? क्योंकि इसके बिना जीवन ही नहीं रहेगा शरीर रक्षा ही नहीं होगी । तो बस यदि प्राण से आपको प्रियता है कि प्राण जरा भी न रुके चलता ही रहे तो मन भी चलेगा ही । मन तभी रुक सकेगा जब प्राण रुकेगें । इन दोनों का बहुत घनिष्ठ संम्बन्ध है । किसी एक को भी रोक सके तो दूसरा स्वतः ही रुक

जावेगा । जल्दी बोलो क्या कहना है । रोक दें प्राण को अभी और फिर मन से भी छूटकारा मिल जावेगा ?

अनादि काल से आजतक मन को जीवित अवस्था में कोई भी नहीं रोक सका और न मृत्यु को छोड़ ऐसा कोई दूसरा साधन है जिसके द्वारा मन पूर्ण रूप से रुक सके । मन को रोकने का साधन खोजना ऐसा ही है जैसे किसी बन्दर को शराब पिलाकर चुप करना । याने एक तो वह स्वभाव से ही चंचल फिर मन्त्र जप, ध्यान साधन का चिन्तन भी उसे और अधिक ही चंचल बनावेगा, स्थिर नहीं कर सकेगा । अतः जो मन को जितना अधिक रोकने की चेष्टा में लगेगा वह पावेगा कि मन उसका पूर्व से अधिक चंचल हो चुका है; क्योंकि साधन का बोझा भी तो उसी मन को ही उठाना होगा कि किसी दूसरे मन से करावेगें ? भला यह तो ऐसा ही हुआ कि भागो पर चलो नहीं । ऐसी ही बात तो आप मन से कह रहे हैं कि साधन तो करो; ध्यान तो करो, चिन्तन तो करो किन्तु स्थिर रहो । भला बताओ पहले ही उसके पास क्या कम बोझ था ? कम काम था ? अब जो साधन का बोझ साधन का काम उसके सुपुर्द कर दिया तो उसकी चंचलता उसकी कार्य क्षमता घटेगी या बढ़ेगी ? आश्चर्य है एक दो नहीं सभी भूल में पड़ गये हैं । शास्त्र में भी मन को रोकने का ही लिखा देख ज्यादा लोग भ्रम में पड़ गये हैं । पर मन को रोकने का साधन भी तो मन ही को करना है । तो क्या उसके लिये बाजार में रेडीमेड मन मिलता है ? जिसको खरीद कर अपना पहला मन शान्त करा सकोगे ?

ध्यान दें ! यह सदियों की भूल है । गुरुओं ने भी हमें आ-आकर मन को रोकने का ही उपदेश किया, पर यह नहीं बिचार की क्या उनका मन भी रुका है ? क्या कृष्ण का मन भी रुका है ? यदि मन के संकल्पहीन अवस्था को ही रुकना कहा जाता तो आपके गुरु की वाणी ही कैसे खुलती ? कृष्ण अर्जुन को क्यों व कैसे कहपाते । पर सब ने कहा है व मन को वश करने का भी बहुत कुछ कहा है । वाह ! क्या बात कही, ब्रह्मचारी भी रहो और बच्चे

भी पैदा हो । क्या रहस्य है यह कि सब बोलते जा रहें हैं, चीखते जा रहे हैं माइक द्वारा लाउड़ स्पिकर द्वारा उँचे आसन मंच से सुना रहे हैं कि मन को वश में करो पर स्वयं बोल रहे हैं । तो इससे सिद्ध होता है कि मन को वश में करने का मतलब संकल्प शून्य, जड़ होना नहीं है, बल्कि दृश्य से दृष्टि हटाकर द्रष्टा पर आ जावे, दृश्य से सत्यत्व बुद्धि हट द्रष्टा आत्मा में जुड़ जावे तो वही ध्यान, समाधि या मन का स्थिर होना वास्तविक रूप में कहलाता है । तटस्थ हो जाना है । मन की वृत्तियों का साक्षी हो जाना है । नदी के तट पर बैठा नदी की राह में बहने वाले पदार्थों को जैसा व्यक्ति देखता मात्र है उसमें राग-द्वेष नहीं करता चुनाव नहीं करता उसी तरह मन के द्रष्टा रहें ।

बैल को लकड़ी या घोड़े को चाबुक लगाओ तो क्या वे शान्त होते हैं या अधिक तेजी से भागते हैं पहले की अपेक्षा ? यदि शान्त करना चाहते हैं तो उनकी रस्सी उनकी लगाम ढ़ीली करनी ही होगी, लकड़ी, चाबुक का प्रयोग बन्द करना ही होगा । यदि करेंगे तो वे अधिक चंचल होंगे ही । यदि कहें कि इन्द्रिय रूपी घोड़े कहीं गडढ़े में ले जाकर गिरा देंगे । तो यह भय उन अज्ञानियों के लिये है जिनकी दृष्टि कहीं दृश्य में अटकी है, दृश्य में सत्यत्व बुद्धि है, किन्तु गुरु उपदिष्ट मुमुक्षु के लिये जहाँ सर्वत्र एक अखण्ड सत्ता है वहाँ कहाँ तो चलना है ? और कहाँ गडढ़ा है जिसमें गिरना है ?

समदरशी सतगुरु मिला दिया अविचल ज्ञान ।
जहँ देखा तहँ आप है दूजा नहीं आन ।।

ज्ञानी की दृष्टि जहाँ भी पड़े वह स्वसत्ता से भिन्न कुछ मानता जानता ही नहीं । उसकी हर अवस्था में समाधि ही है ।

अस्तु मन को रोकना योग नहीं है बल्कि मन को समझना मन को देखना ही योग है । मन को एक निश्चित कार्य चाहिये फिर बस वह आपको परेशान नहीं करेगा । खाली दिमाग ही शैतान का घर कहा है । मन को प्रेम चाहिये, वह उसीके लिये बाहर दूर-दूर तक आँखे फाड़कर देखता रहता है ।

एवं कहीं नहीं मिलने पर थककर घर में आकर सो जाता है । फिर सुबह उठकर वही धन्दा । आप मन को प्रेम से भर दो आत्मा के साथ, संत के साथ, शास्त्र के साथ, चिन्तन के साथ उसे जोड़ दो, वह वहाँ रस लेने लगेगा । मन मधुप होते ही सब परेशानी स्वतः दूर हो जावेगी । वह फिर परेशान नहीं करेगा । करता तो बेचारा अभी भी नहीं है, सर्वदा अपने कार्य में ही लगा रहता है । किन्तु उसकी शिकायत करने की आपको आदत ही पड़ गई है । वह तो बेचारा मालिक की वफादारी से नौकरी टहल करता है । वह तो हर समय काम माँगता है, चुप बैठ कर खाने वाला निठल्लु नहीं है । अतः मन से शत्रुता का भाव हटा दें । उससे मित्रता करें । शत्रुता से किसी को नहीं जीत सकते हैं । बाहर से भले जीतलें किन्तु अन्दर से जीतने हेतु शत्रुता नहीं प्रेम ही मार्ग है । बस प्रेम पाते ही वह आपका आज्ञाकारी पुत्र से अधिक आज्ञाकारी सेवक होगा । सदियों से मन के साथ बहुत अत्याचार हुआ है । आजतक उसे लोगों ने, संतो ने, शास्त्रकारों ने समझाने में भूल की है इसलिये समझने में भी भूल हुई है ।

मन का अपने आत्मा साक्षी में कितना अनन्य प्रेम है यह कभी आप लोगों ने निष्पक्ष एवं शान्त होकर नहीं सोचा कि अच्छा-बुरा वह जो भी बाहर से ग्रहण करता है साक्षी को ही लाकर देता है । अकेला चोरी से कुछ नहीं करता । साक्षी की प्रसन्नता हेतु ही प्रतिक्षण वह व्याकुल रहता है । और प्रत्यक् नई वस्तु को लाकर अपने मालिक के सामने प्रस्तुत करता है कि शायद उन्हें पसन्द आ जावे । यदि पसन्द आ जावे तो प्राप्ति के साधन में प्राण इन्द्रिय शरीर को आज्ञा देकर तत्काल वस्तु प्राप्ति का पूर्ण प्रयत्न कर ले आता है । यदि साक्षी को वह वस्तु पसन्द नहीं आई तो दूसरी वस्तु तत्काल खोजने निकल पड़ता है । बेचार हर समय अपने साक्षी को, मालिक को खुश करने में ही लगा रहता है । आखिर ऐसे सेवा परायण नौकर के प्रति इतना जुल्म क्यों ? यदि उसका कहीं जाना मालिक को पसन्द नहीं है तो उसे जाने, सोचने, करने तथा शक्ति ही क्यों देते हैं ? मालिक की प्रेरणा

पाकर ही तो बेचार चलता है । फिर गीता में स्पष्ट कहा है कि -

"इन्द्रियाणां मनः च अस्मि"

- गीता : १०/२२

इन्द्रियों में मन मैं ही हूँ । जब इन्द्रियों में मन ब्रह्म ही है तो मन की शुभाशुभ वृत्ति संकल्प-विकल्प भी तो ब्रह्म ही है; क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य हुआ करता है । फिर मन ब्रह्म जो भी सोचता है तब वह अपने से पृथक् कुछ है ही नहीं तो सोचेगा क्या व किसे ? अतः उसका रोकना न रोकना, चंचल या स्थिर होना समान ही है; क्योंकि मन ब्रह्म ही है और ब्रह्म के लिये अपने से पृथक् कुछ होना ही नहीं तो वह किसका चिन्तन करेगा और करे तो भी उसमें ब्रह्म मन की हानि भी क्या होगी ? और न करे तो लाभ भी क्या ? गीता अध्याय ४ के श्लोक २४ में तो यज्ञ, यज्ञ की सामग्री अग्नि, ब्राह्मण, फल सर्ब ब्रह्म ही कहा है । जब घी, जौ, तिल, लकड़ी, अग्नि ब्रह्म है तो मन ही क्यों न ब्रह्म होगा ? तब मन भी ब्रह्म ही है । जब सब ही ब्रह्म है तो वेद का अद्वैत मत घटिक हो गया । देखिये गीता उसी सिद्धान्त को कह रही है -

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

- गीता - ४/२४

हे चिदात्मन् ! यदि मन की स्थिरता से तुम अपने को शान्त एवं आनन्द रूप मानोगे तो वेद सिद्धान्त का विरोध हो जावेगा, क्योंकि वेद में आत्म ब्रह्म को निरपेक्षिक आनन्द रूप कहा है । विषय सापेक्षिक आनन्द रूप नहीं कहा है । मन तो आत्मा का दृश्य है । यदि मन के स्थिर होने पर तुम आनन्द रूप अपने को मानते हो तो आत्मा मन के आधीन हो जावेगा । पर वह तो पूर्ण आनन्द सर्वोपरि एकरस एकरूप है । अतः यह निश्चय करो कि मन के चंचल होने पर भी हम ज्यों के त्यों पूर्ण अचल एवं आनन्द

स्वरूप ही है । अपनी पूर्णता के लिये मन की एवं उसको स्थिर होने की किंचित भी आवश्यकता नहीं है । न उसकी चंचलता से हमारी पूर्णता, आनन्दता, अखण्डता, मुक्तता में कोई बाधा ही पड़ सकती है । प्रकृति में सब अबाध गति से बह रहे हैं । देखो झरनों को, नदियों को, हवा को, पृथ्वी को, तब फिर मन भी तो प्रकृति का ही टुकड़ा है उसे क्यों बहने से रोकना चाहते हैं । तुम तो नदी के मध्य अड़िग चट्टान रूप आत्मा हो । उसके बहने अथवा न बहने से तुम्हारी कोई क्षति अथवा लाभ नहीं है । मन का दैनिक क्रम जाग्रत में चंचलता का व गहरी नींद में शान्त होने का है । सुषुप्ति में वह बिना प्रयत्न के बिना साधन के स्वतः शान्त हो जाता है । तो जब सब ही कर्मचारी आपकी फेक्ट्री में जाग्रत काल में अपना-अपना कार्य करते रहते हैं और आपको भी उनसे कोई शिकायत नहीं है तब इस एक गरीब मन पर ही क्यों रोक लगाना चाहते हें ? इसलिये मन को भी यह अखरता है कि सब तो अपने-अपने कार्य में अपने समय में जागे हुए हैं, मुझे ही क्यों सुलाना चाहते हैं ? और जब मैं क्रोध में आकर कभी सो ही जाऊँगा तो शेष सभी कर्मचारी भी मेरी अनुपस्थिति में जहाँ के तहाँ ही सो जावेंगे । मेरे बिना फिर उनके द्वारा कोई भी कार्य भी संभव नहीं होगा । रोज सुषुप्ति द्वारा यहं प्रत्यक् को शिक्षा भी देता हूँ कि मेरे पीछे न पड़ो, यदि मेरा अभाव हो गया तो यह सब मृत हो जावेंगे । दसों इन्द्रियाँ मेरे बिना शून्य ही है । अतः जाग्रत में मुझे मत छेड़ो, काम करने दो एवं ओरों से भी कराने दो । यदि आप इस फैक्ट्री की उन्नति चाहते हैं तो मुझे परेशान मत करो अन्यथा मैं सदा के लिये फैक्ट्री के मुख्य द्वार पर ही ताले डलवा दूँगा । फिर सब कारीगर भाग जावेंगे । मेरे कारण ही ये सब टिके हुए हैं । अतः मेरी नियमित व्यवस्था में बाधा न डालें आत्म प्रेमियों से मेरी यही प्रार्थना है ।

हे आत्मन् ! जैसे माँ को देखते ही बच्चा आनन्दित एवं स्फूर्तिवान हो जाता है, मालिक को देखते ही नौकर आलस्य छोड़ कर उठ खड़ा होता है एवं प्रसन्न हो जाता है, उसी प्रकार मन अपने साक्षी को जाग्रत अवस्था में

पाते ही स्फूर्तिवान तथा प्रसन्न हो जाता है और खुश होकर उसे इधर उधर नाच नाच कर रिझाने लगता है । जैसे मयूर मयूरानी को देख क्रीड़ा करने लग जाता है, पंख फैलाकर नृत्य करता है और मयूरनी भी आनन्द ही मनाती है दुःख नहीं मनाती । वैसे ही मन मयूर भी अपनी आत्मा रूप मयूरनी को देख नाचता कूदता है । तो इसमें क्या बुरा है ? उसे खुश देख चंचल कह देना भूल है । चंचल तो वह तब कहा जा सकता था जब वह द्रष्टा की दृष्टि से गुम हो जाता कहीं, छिप जाता या बाहर कहीं अटक जाता । पर मन तो आत्मा का ऐसा अनन्य प्रेमी है कि बिना साक्षी के वह कहीं एक क्षण भी न कहीं रुकता है न कहीं देखता है और न कहीं चलता है । सब अवस्थाओं में उसके साथ साक्षी है । बिना साक्षी के उसकी किसी कार्य करने में प्रवृत्ति ही नहीं होती है । बिना साक्षी दर्शन के किसी कार्य में मन का भी मन नहीं लगता है ।

जिनकी दृष्टि में मन नाम की कोई वस्तु है उनका अद्वैत ज्ञान हँसने योग्य ही है । उन्होंने अभी अपनी आत्मा की व्यापकता, पूर्णता, अखंडता को अनुभव निश्चय नहीं किया है । केवल अभी उन्होंने तोते की तरह शब्दों का ही रटन किया है । यदि तुम अद्वैत आत्मसत्ता हो तो बताओ फिर मन कहाँ है ? जो परेशान कर रहा है ।

शशे शृंग को धनुष लई के; गगन पुरुष को मारा रे ।

की तरह ही बात मन के परेशान करने की है ।

जैसे राजा की शोभा नगर, प्रजा, सैन्यादि से है । प्रजा से रहित होने पर उसे कोई राजा कह कर नहीं पुकारता है । इसी प्रकार आत्मा की शोभा अनात्म मन से ही है देह, इन्द्रिय, प्राण, मनादि प्रजा न हो तो आत्मा रूप राजा का क्या महत्व ? मनुष्य न हो तो हीरे का क्या महत्व ? अनात्मा से ही आत्मा का गौरव महिमा झलकती है । रात्री न हो तो दिन का क्या महत्व ? दुःख न हो तो सुख का कोई मूल्य ही नहीं है । अतः अनात्म मन चैतन्य आत्मा के लिये विघ्न रूप नहीं है । अलंकार से ही स्वर्ण की महिमा है, सर

पर चढ़ता है अन्यथा ढेले रूप स्वर्ण का कोई उपयोग नहीं, सिवा बन्द करके रखने की ।

फिर भली प्रकार ज्ञान रूप राजा के द्वारा मरे मन रूप शत्रु भले रणक्षेत्र में पड़े हुए दीखते रहें उससे राजा की कोई हानि नहीं है, बल्कि उल्टा उससे राजा का गौरव ही बढ़ता है । उसे फेंकने, जलाने, गाडने में नहीं । यदि तुम मन नहीं तो फिर तुम मन को अलग कर देने से स्वयं भी खंडित हो गये । तुम्हारी व्यापकता को खंण्डित रूप ही पाओगे या तो अपनी अखण्ड सत्ता के अलावा कुछ न देखो । अथवा मन को अपना सर्वस्व न मानो । यदि तुम्हें थोड़ी भी बुद्धि, विवेक या विचार करने की शक्ति है तो अपनी पूर्णता का ही अनुभव करो जो तुम्हारा स्वरूप है । जो तुम नहीं हो तो फिर उसका चिन्तन भी काहे को करते हो एवं व्यर्थ दुःखी होते हो । यदि तुम मन हो तो मन का चिन्तन करो, देह, इन्द्रिय, प्राण हो तो इनका चिन्तन करो और यदि आत्मा हो तो अपने अचल, सत, चित, आनन्द, साक्षी, असंग, निर्विकार, नित्यमुक्त, शुद्ध, बुद्ध स्वरूप का चिन्तन करो । याद रखो अपने को छोटा बनाने का कोई चिन्तन नहीं करता, सदा बड़ा समझने, बड़ा होने का ही विचार करते हैं, क्योंकि यथा मति तथा गति होती है । अतः अब स्वयं सोचलें कि आप मन नौकर होना चाहते हैं या आत्मा मालिक होना चाहते हैं ।

प्रश्न - १८७ : बारम्बार प्रयत्न करने पर भी परमात्मा ध्यान में क्यें नहीं आता ?

उत्तर : ध्यान प्रेमियों को प्रथम यह विचार करना होगा कि वे ध्यान सत्य वस्तु का करना चाहते हें या असत्य का ? यदि सत्य वस्तु का ध्यान करना चाहते हैं तो सत्य वस्तु वह है जिसका किसी भी काल में किस भी अवस्था में अभाव न हो । याने त्रिकालबाधित ही सत्य होता है । जो ध्यान लगाने के पूर्व है ध्यान लगाने के समय है और जो ध्यान छूटने के पश्चात है वही सत्य है; अर्थात् जिसने इन तीनों अवस्थाओं का दर्शन किया वही तू

स्वयं सत्य है । फिर मन के पकड़ में जो मूर्ति आवेगी वह जड़, माया एवं जगत् का ही एक अंग होगी । वह सत्य नहीं होगी । सत्य तो वही है जो अभी है जो सर्वकाल में है वही आपका अपना आत्मा ही इष्ट है अन्य नहीं । आपके अलावा कोई स्थायी नहीं है । सब चंचल है, फिर चंचल मन के आश्रित रहने वाला इष्ट कैसे स्थिर रह सकता है । चंचल जल में स्थिर प्रतिविम्ब नहीं पड़ सकता । स्थिर जल में ही प्रतिविम्ब पड़ जाता है और हम देख लेते हैं, किन्तु मन यदि स्थिर हो भी जावे तो फिर प्रतिविम्ब पड़ा या न पड़ा यह बिना मन के स्पन्दित हुए, बिना फुरे जानेगें भी कैसे ? फिर ईश्वर तो दृश्य नहीं या कोई भिन्न सत्ता नहीं है जिसका ध्यान के चित्रपट पर आप दर्शन कर सकें ।

यदि ध्यान लगाने से आपका इष्ट आ जाता है और ध्यान छोड़ने से चला जाता है तो फिर वह इष्ट आपके आज्ञा का गुलाम सिद्ध हो गया । आपकी स्मृति के आधीन हो गया । भले वो साकार रूप हो या निराकार, फिर ध्यान करने का जो स्थान आपका हृदय या भृकुटी वह है भी कितना अल्प, कितना छोटा । यदि कोई भी एक वस्तु पुरी-पुरी उसमें व्यवहारिक सत्य रूप से आ जावे तो खोपड़ी फट जावेगी हृदय फट जावेगा । अतः ध्यानावस्था में वहाँ जो भी आता है वह सब कल्पना का ही चित्र बनता है, वहाँ दीखने वाले पदार्थ होते नहीं है जैसे टेलीविजन या सिनेमा का पर्दा । यदि ध्यान में हाथी भैंस आ जावे तो आप संसार से ही चल बसेंगे । वहाँ अन्दर इतनी जगह ही कहाँ और आप देखते हैं सातों आसमान की बात, चौदह लोक का नजारा । तो फिर जो बिना देश काल सामग्री के दीखे वह मिथ्या ही तो है । तब ध्यान का ईश्वर भी वैसा ही मिथ्या है । आप ध्यान अबिनाशी का करना चाहते हैं या बिनाशी का ? यदि आप अबिनाशी का करना चाहते हैं तो वहाँ शरीर नाम रूप आकार ही नहीं तो देखेगें किसे, किसके द्वारा कहाँ से रिले होगा और कौन आवेगा ? फिर जो सर्वव्यापक है वह ध्यान के पहले भी अवश्य है भले आप उसे न जानते हो किन्तु वह आप

में अवश्य है यह मानना ही पड़ेगा । तब जो मन द्वारा नूतन धयान में रिसिव करेंगे तो वह मिथ्या ही होगा ।

याद रखें ! जो मिला हुआ ही है उसे खोजना नहीं होता समझना होता है और समझना ध्यान से नहीं ज्ञान से, विवेक से विचारणा से हुआ करता है । इसके लिये किसी संत के शरणापन्न हो उनके वचन में श्रद्धा विश्वास करना ही एकमात्र साधन है । अपने अन्दर नहीं बल्कि स्वयं वह होने का निश्चय या विश्वास ही जाग्रत करना है । और जब इष्ट मिलन या उसके होने का बोध हो गया तो फिर ध्यान पूर्ण हो गया । अब ध्यान करने की आवश्यकता ही क्या ? ऐसा निश्चय होना ही ध्यान या ज्ञान समाधि कहलाती है । फिर अपने मन को सदा आनन्दित पाओगे ।

स्वयं को, आत्मा को, इष्ट को सर्वत्र समझना ही ध्यान कहलाता है । यही मन का रुकना, चित्त का इष्ट में लय होना या एकाग्र होना कहलाता है । दृश्य से दृष्टि द्रष्टा पर आ जावे तो ध्यान हो गया । चित्त वृत्तियों के प्रति तटस्थ होना ही सच्चा ध्यान है । खो जाने का नाम, शून्य हो जाने का नाम ध्यान नहीं है । चाहे आप सगुण के भक्त हो या निर्गुण के, इष्ट के साथ अभेद हो जाना ही भक्ति, ध्यान, समाधि या ज्ञान की पूर्णता कहलाती है । मिले हुए की खोज में निकलना या अनमिला कहना ही अशान्ति का मूल कारण है; क्योंकि फिर उसे प्राप्ति हेतु साधन श्रम उठाना ही पड़ेगा और जो मिलेगा वह फिर भी अनित्य परिच्छिन्न ही होगा । अपना आत्मा ही सबको इष्ट है । क्योंकि सर्वोपरि प्रिय ही इष्ट होता है । अतः अपना आत्मा ही सबका अपना इष्ट हो सकता है । और वह कोई हमसे भिन्न पदार्थ तो है नहीं, जिसे हम प्राप्त कर सकें या ध्यान में खड़ा कर देख सकें । तब फिर जो अपने से भिन्न नहीं उसे पाना ही क्या ? उसके लिये साधन श्रम उठाना भी क्या ? उसे तो केवल गुरु से समझना है ।

अब बताईये आपका मन कहाँ है ? यदि आप में है तो ध्यान सिद्ध हो

गया । बाहर है तो वह कोई भी इष्ट क्यों न हो बिनाशी पदार्थ में ही अटका हुआ है । ध्यान तो यही है कि आप द्रष्टा सत्य हैं, बस मन या चित्त पर जो भी स्मृति चित्र अंकित होते हैं तो होने दें, मिटते हैं तो मिटने दें । आप किसी भी दृश्य से चित्त को न हटावें, न जोड़ने की चेष्टा करें । जो आये उसे आने दें, जो जावे उसे जाने दें आप हैं ही द्रष्टा । आपको दिखाई दे ऐसा कोई साधन ही नहीं है । दर्पण बिना दिखाये नहीं रह सकता जो भी सामने आवे वह फौरन दिखा देगा । भाव होगा तो, अभाव हो तो भी दिखा देगा । मन समाधि करे तो भी आप दिखा रहे हैं । मूर्च्छा है तो उसे भी जान रहे हैं । आत्माकार वृत्ति है तो भी जान रहे हैं । इस प्रकार आपका अनादि से ध्यान तो सहज नित्य लगा हुआ ही है, अखण्ड समाधि बनी ही है । विषय बदल जावे तो क्या हुआ द्रष्टा का ध्यान तो अखण्ड ही है, देखना तो अखण्ड ही बना रहता है । जाग्रत में भी देखना, स्वप्न में भी देखना, सुषुप्ति में भी अज्ञान एवं आनन्द का देखना तो जारी ही है । तब फिर ध्यान समाधि टूटी ही कहाँ ? अनादि काल से कितने शरीर धारण कर कितने दृश्यों को दिखाया किन्तु किसी ने द्रष्टा धर्म में विक्षेप नहीं किया कोई अटका न सके । तब फिर मन के धर्म में अकारण क्यों विक्षेप डालते हो ? दृश्य में श्रद्धा एवं सन्तोष कर न भटकें ।

जिन्हें अपनी असंगता व्यापकता का बोध हो गया, उनका ध्यान हो गया फिर उनकी हर अवस्था समाधि ही है । इसीलिये ज्ञानियों की प्रवृत्ति भी समाधि रूप है और अज्ञानियों की साधी हुई समाधि भी प्रवृत्ति रूप ही है । इस मन के संकल्प को आज तक कोई रोकने में समर्थ नहीं हुआ । उसका आना-जाना फूरना, मूर्च्छा, सुषुप्ति समाधि छोड़ जीवितावस्था में तो कभी पूर्ण रूप से बन्द हो ही नहीं सकता । भले आप उधर न देखें अपने पर दृष्टि ले आवें, किन्तु श्वासों की तरह उनका कार्य तो चलता ही रहेगा । अतः ध्यान करें तो इस प्रकार कि मेरे सिवा यहाँ कोई अन्य नहीं है, केवल मैं ही हूँ ऐसी निष्ठा ही सच्ची समाधि या ध्यान कहलाता है ।

फिर ध्यान या चिन्तन सदा देखी हुई वस्तु का ही किया जा सकता है । आज तक जिस वस्तु को आपने कभी कहीं देखा ही नहीं उसका अनन्त युगों प्रयत्न कर भी ध्यान नहीं कर सकते । क्या आप ध्यान में पारस को देख सकते हैं कि वह कौन आकार कौन रंग का है ? क्या चिन्तन कर सकते हैं कि अमृत को कैसा स्वाद स्वरूप है ? क्योंकि इन्हें सुना मात्र है देखा किसी ने नहीं अतः ध्यान भी नहीं हो सकता ।

ध्यान प्रेमी साधकों आप होश पूर्वक समझ लें कि परमात्मा का ध्यान करना या ब्रध्या के पुत्र का ध्यान करना समान है । कोई भी इन दोनों को कहीं नहीं देख सका । ये केवल नाम मात्र है । व्यक्ति नहीं हैं । तब फिर जिस परमात्मा को देखा नहीं उसका रूप, रंग, आकार, ज्ञात नहीं, उसका मकान नं., फोन नं., तार पत्ता, पोस्ट बाक्स नं., ज्ञात नहीं, शहर स्थान प्रान्त व देश ज्ञात नहीं, तब आप कहाँ का नम्बर मिला रहे हैं सब (**wrong**) गलत नम्बर । कहाँ तार कर रहे हैं, कहाँ की यात्रा पर निकल रहे हैं ? किसे ध्यान में बुला रहे हो, किसे पुकार रहे हो बाग देकर ?

चलन चलन सब कोई कहे,
मोहि अन्देसा ओर ।
साहब से परिचय नहीं,
पहुँचोगे केही ठौर ॥

क्या कभी स्टेशन पर, गंगा तट पर, त्रिवेणी संगम पर, सेलुन में, मयखाने में, सिनेमा, होटेल में, राशन की लाईन में, ट्रेन बस में कभी कहीं मुलाकात हुई थी प्रभु से; यदि नहीं तो आप किसको ध्यान में बुला रहे हैं । यह तो विचारो ध्यान करने से पूर्व कि हमारा इष्ट हमसे दूर है या पास ? पास है या अभिन्न है । वह साधन से, समाधि से मिलेगा भी कि नहीं ? नहीं तो किस प्रकार वह मिल सकता है ? हमें चित्त को रोकना पड़ेगा या हमारी बुद्धि की भ्रान्ति को ही ठीक करना होगा । इस प्रकार विचार किये बिना कोई

हजारों वर्ष आँख बन्द कर ध्यान या समाधि का नाटक कर मिथ्या अहंकार करता रहे किसी भी अवस्था को प्राप्ति का, पर उसका वह सब श्रम मात्र है ।

चित्त या मन की अवस्थाओं को स्थिर करने या अभाव रूप करने की जरूरत नहीं है । आवश्यकता है केवल इस चिन्तन को कि अपने को विशुद्ध असंग द्रष्टा साक्षी रूप जानने की । साक्षी हर अवस्थाओं में एक रस ही है । चित्त त्रिगुणात्मिका है, वह ज्ञानी का अज्ञानी से विशेष कभी नहीं हो सकता । जो गुण से बना है वह गुणों से अतीत नहीं हो सकता । यदि आप आत्मा है तो फिर वृत्ति के चक्कर में पड़ने की जरूरत ही नहीं है । सहज अपने स्वरूप के चिन्तन में रहना चाहे तो रहें अन्यथा उसका भी कोई बन्धन नहीं, मुक्त होने का यही सहज उपाय है । किसी भी वृत्ति से मेरी कोई क्षति या लाभ नहीं । कुछ नूतन बनाने की करने की अभिलाषा नहीं । मैं समस्त वृत्तियों का साक्षी उनसे असंग निर्विकार ही हूँ । उन वृत्तियों के बनने बिगड़ने से मैं बनता बिगड़ता नहीं, मलिन-चंचल, शान्त-अशान्त होता नहीं । तब फिर क्यों नूतन साधन, कर्म, करके अहंकार को आमन्त्रित किया जाय ? अपने स्वरूप में कर्त्तव्यता को भ्रान्ति ही बन्धन है । तथा निष्कर्त्तव्यता की निश्चय ही सच्ची मुक्ति है । अब ध्यान करने वाले प्रेमी स्वयं सोचलें कि वे क्या चाहते हैं ।

पूजा, सेवा, समाधि, हठयोग आदि में हजारों जन्म तक भी कोई अपने मूल अज्ञान का नाश नहीं कर सकेगा । बाहुबली जैसा बलवान भी तपश्चर्या साधन कर थक गया । यह तो होता ही तब है जब किसी तत्त्वज्ञ सद्गुरु की कृपा कटाक्ष हो जावे तो उनसे प्राप्त सत्संग द्वारा अनादि अज्ञान नष्ट हो सकता है और मन स्वरूप में स्थित हो सकता है । ज्ञान के बिना समस्त साधन मन के दोषों को छुपाने, के, भुलाने के, सुरक्षित रखने के ही साधन हैं नष्ट तो आत्मज्ञान से ही होते हैं । जैसे घर के दुःखों को भुलाने के साधन, उपन्यास, सिनेमा, क्लब, यात्रा, शराबादि है पर ग्रहस्थ के दुःखों

का उनसे नाश नहीं होता ।

अतः ध्यान में ईश्वर को लाने की चेष्टा नहीं करना है न वह आ ही सकता है; क्योंकि उसे किसी ने कभी देखा ही नहीं तो ध्यान किसका करेंगे ? चित्त से आप तो इतना ही कहिये कि जिस अवस्था में भी तू रहना चाहता है रहता चल; किन्तु मैं तो तेरे साथ अनादि काल से हर अवस्था का ज्यों का त्यों साक्षी निर्विकार असंग सच्चिदानन्द स्वरूप ही बना रहता हूँ । जब ध्यान का यह रहस्य समझ आ जावेगा तब समस्त ध्यान, जप, मन्त्र, तप का कष्ट भी छूट गया और आज तक किये समस्त साधन भी सफल हो गये ।

ध्यान के लिये अपने ही स्वरूप लक्षणों का चिन्तन करलें क्योंकि अपनी मूर्ति तो ध्यान में आ नहीं सकती । दृश्य बनकर द्रष्टा तो आ नहीं सकता । किन्तु अपने सच्चिदानन्द द्रष्टा साक्षी असंग आदि लक्षणों से अपने को निश्चय कर शान्ति पाईये ।

प्रश्न - १८८ : मन बुद्धि परमात्मा मैं कैसे समर्पण करें ?

उत्तर : गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण भी अर्जुन को यही बात कहते हैं कि-

"**मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मद्भक्त स मे प्रियः**" - १२/४

"**मन्मना भव**"

अर्थात् मेरे में अर्पण किये हुए मन बुद्धि वाला मरा भक्त मेरे को प्रिय है । मेरे में मन वाला हो ।

पर सोचना यह है कि हम जिन इष्टों के ध्यान चिन्तन एवं मननादि साधनों द्वारा मन बुद्धि को समर्पण करते हैं, क्या वास्तव में वह ब्रह्म है ? क्या वास्तव में वहाँ हमारे मन बुद्धि का समर्पण हआ ? या मन बुद्धि के आश्रित इष्ट का ही मन बुद्धि में समर्पण हो रहा है ?

पहली बात तो यह है कि हम मन बुद्धि से जिन आकारों का चिन्तन करते हैं वह ब्रह्म का रूप ही नहीं है । उपनिषद कहता है -

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"

- तैतिरीय उप. ब्रह्मानन्द बल्ली, नवम अनुवाक्

अर्थात् मन सहित वाणी एवं समस्त इन्दियाँ जहाँ से उसे न पाकर लौट आती है वह ब्रह्म है । पुनः केनोपनिषद कहता है -

यन्मन्सा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासदे ।।

- १/५

अर्थात् जिसे मन मनन करके नहीं जान सकता बल्कि जिसकी आंशिक शक्ति पाकर ही मन दृश्य वर्ग का चिन्तन कर पाता है वह ब्रह्म है । मन द्वारा जो विचारा जाता है, जगत् वाले मन द्वारा जिस ब्रह्म की उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है । आगे बुद्धि के लिये वृहदारण्यक उपनिषद कहता है कि -

"येनेदँ सर्व विजानाति तं केन विजानीया - द्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिती" - २/४/१४

अर्थात् बुद्धि से जिसका चिन्तन निश्चय होता है वह ब्रह्म नहीं है, बल्कि जिसकी शक्ति से बुद्धि सब कुछ दृश्य वर्ग जानने में समर्थ होती है वह ब्रह्म है । बुद्धि को जानने वाले आत्मा को बुद्धि भला कैसे जान सकती है, कैसे निश्चय कर सकती है ?

यह हुआ शास्त्रों का निष्कर्ष कि मन बुद्धि परमात्मा का चिन्तन नहीं कर सकते तो फिर उनके समर्पण भी कैसे होगी और जिन इष्टों का मन बुद्धि चिन्तन करते हैं, उन इष्टों को भी मन बुद्धि कभी समर्पण नहीं हो सकते; क्योंकि वे तो स्वयं मन-बुद्धि के आश्रित हैं । जब मन-बुद्धि उनका ध्यान चिन्तन करना चाहती है, तभी वे आकर उपस्थित होते हैं और न चाहने पर नहीं आ सकते । इस प्रकार बुद्धि की शरण में आ पड़े इष्ट को बुद्धि कैसे समर्पित कर सकते हैं ? मन बुद्धि तो उनके समर्पित अपने को नहीं करती बल्कि वे इष्ट ही मन बुद्धि के समर्पित हो जाते हैं । सुषुप्ति काल में जब

मन बुद्धि अपने कारण अज्ञान में लय हो जाते हैं तब वे मन बुद्धि के भी कार्य रूप इष्ट भला कैसे बाहर जीवित रह सकेंगे ? वे ईष्ट भी मन बुद्धि के लय होने के साथ ही मन बुद्धि में लय हो जावेगें । फिर मन बुद्धि के जागने पर और इष्ट को बुलाने पर ही वे इष्ट पुनः उत्पन्न होकर खड़े होते हैं । इस प्रकार न तो मन बुद्धि के आश्रित को ही ब्रह्म कहा जा सकता है और न मन बुद्धि का उनको समर्पण ही हो सकता ।

अब यह प्रश्न उठता है कि फिर ब्रह्म कौन है ? और उसके समर्पण मन बुद्धि कैसे ही हो सकती है ?

केनोपनिषद के अनुसार ब्रह्म वही है जिससे घ्राण, चक्षु, प्राण, मन, बुद्धि, श्रोत्रादि समस्त सूक्ष्म शरीर अपना अपना कार्य करने में समर्थ हो रहे हैं । जो मन, बुद्धि, प्राण, घ्राण, चक्षु, वाणी आदि इन्द्रियों से सर्वथा ही अतीत है । अर्थात् जो सबका प्रेरक सबका जानने वाला है अपना यह आत्मा ही ब्रह्म है । मन बुद्धि जिसकी है उसके सर्वदा समर्पित ही है, किन्तु जिनका इष्ट बाहर है उन बहिर्मूखी जीवों को यह बोध नहीं है । अतः उनको यही कहा जाता है कि आत्मा चिन्तन परायण होना ही ब्रह्म में मन बुद्धि को समर्पण करना है । संकल्प हीन चुप जड़वत् बैठ जाने का नाम समर्पण नहीं, किन्तु अपने इष्ट को आत्मा रूप में जानकर उसके लक्षणों का चिन्तन, मनन, निश्चय करना ही ब्रह्म में मन बुद्धि का समर्पण है । देखाजाये तो विषयाकार मन बुद्धि होने पर भी मन बुद्धि आत्म ब्रह्म के आश्रित है, आत्म ब्रह्म से मन बुद्धि की पृथक् शक्ति नहीं है । अतः आत्म ब्रह्म के सर्वदा आश्रित होने के कारण वे पूर्व से ही समर्पित हैं । पर इस सत्य का बोध न होने से अज्ञानी जन बाहर इष्टाकार कल्पित कर उसके ध्यान चिन्तन मनन रूप साधना करके अपने मन बुद्धि को उनके समर्पण करना मानते हैं, पर वह कभी हो नहीं सकता; कयोंकि उनके देवता, उनके इष्ट, उनके परमात्मा स्वयं ही उनके ध्यान, चिन्तन, मनन के आश्रित जीवित होने से गुलामवत् ही है । मन बुद्धि के खोने पर वे स्वयं भी उसी मन बुद्धि में खो जाते है । परन्तु इस मन बुद्धि

के खोने को और उनके इष्ट को जो जानता है वहै तू स्वयं ही ब्रह्म है ।

प्रश्न - १८९ : नित्यकर्म संध्या उपासनादि किस प्रकार करना चाहिये ?

उत्तर : सूर्योदय के पूर्व जितनी जल्दी हो सके उठकर विस्तर पर ही बैठ या लेटे हुए सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक परमात्मा का स्मरण ध्यान करना चाहिये । उस परमात्मा के स्वरूप को मैं रूप से, सोऽहम् रूप से, शिवोऽहम् रूप से निश्चय कर अपनी दैनिक क्रिया शौच, दातुन, स्नान, आसन, आदि करने के बाद कुछ नियमित समय तक आत्मचिन्तन याने अपने व्यष्टि अहंकार को, व्यष्टि व्यक्तित्व को समष्टि में जोड़ने के लिये अभ्यास करना चाहिये ।

सर्वप्रथम ऐसा सोचें कि यह मैं नाम रूप से जो अहंकार करता हूँ वह मिथ्या है; क्योंकि नाम रूप ईश्वर की उपाधि है माया अंश है देह के पहचानने हेतु रख दिये गये हैं । और जो देह है वह पाँच भूतों का समुदाय गठरी मात्र है । फिर जो पाँच भूत आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी आदि मेरे में है वही भूत सृष्टि के समष्टि जीवो में है । अतः अब एक शरीर के भूत इतना ही नहीं हूँ, बल्कि सभी शरीर मैं हूँ या मेरे हैं । इस प्रकार व्यष्टि देह का अभिमानी जीव अपने एक स्थूल देह के अहंकार को तोड़कर समष्टि स्थूल देहों के अन्तर्गत कर लेता है । फिर विचार करना चाहिये कि किसी के पूछने पर इस एक स्थूल देह में ही जो मैं कहता रहता हूँ वही सभी स्थूल देह वाले भी मैं हूँ कहकर परिचय देते हैं । तब मैं इसी स्थूल देह में नहीं हूँ । किन्तु भूतों के व्यापक होने के साथ मैं भी व्यापक हूँ । अतः मैं व्यष्टि देह का ही अभिमानी नहीं बल्कि समष्टि देहों का अभिमानी हूँ । इस प्रकार के ध्यान से एक स्थूल देह के नाम, रूप, जाति, आश्रम, सम्बन्ध, परिणाम तथा जन्म-मृत्यु का शोक निवृत्त हो जाता है ।

फिर सोचें कि पंचभूत का ही सब पसारा है । उसमें किसी भी भूत की

आज तक हानी नहीं हुई । यदि कोई भी भूत उपयोग करने से नष्ट होता तो आज तक किसी को वायु, आकाश, सूर्य, जल, पृथ्वी की उर्वरा शक्ति मिलती ही नहीं । अनादि से निरन्तर प्रवाह होने पर भी सृष्टि ज्यों की त्यों विद्यमान है । अतः यह सब सगुण ब्रह्म का ही नित्य अबिनाशी रूप है । आकार परिवर्तन होने से ही किसी का नाश होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता । मिट्टी से घड़े, शराव, दीपक, सुराही, बना लेने तथा पुनः टूट जाने से मिट्टी की हानी नहीं होती ।

अब आगे सोचों जो १९ तत्त्वों का सूक्ष्म शरीर मेरा है वही १९ तत्त्वों का सूक्ष्म शरीर समष्टि जीवों का है । अतः फिर मैं केवल इतना ही नहीं बल्कि समष्टि के १९ तत्त्व के सभी सूक्ष्म शरीर मेरे हैं । जब सभी सूक्ष्म शरीर मेरे हैं तब उन सभी के अन्तःकरण मेरे हैं । फिर उनके विचार, उनके सुख-दुःख, उनके पुण्य-पाप मेरे ही हैं । अब जो अनेक अन्तःकरण की गति हो रही है उसमें ही इस मेरे व्यष्टि अन्तःकरण को भी छोड़ देना चाहिये । इस प्रकार एक सूक्ष्म शरीर का अभिमान छोड़ समष्टि के सूक्ष्म शरीर का अभिमान धारण कर लेने से व्यष्टि सूक्ष्म शरीर का धर्म बन्ध-मोक्ष, ज्ञान-अज्ञान, पुण्य-पाप, कर्ता-भोक्ता, सुख-दुःख, आवागमन, स्वर्ग-नरक आदि भ्रान्ति से निवृत्त हो जाता हैं ।

फिर विचारें कि जो मेरे व्यष्टि कारण शरीर की रचना अज्ञान से हुई है वही सबके शरीरों का कारण है, याने एक ही अज्ञान से सब शरीर रचे है । अतः मैं केवल एक (व्यष्टि) कारण शरीर का ही मालिक नहीं, किन्तु समष्टि के सभी कारण शरीर मेरे हैं । तब एक शरीर का अज्ञान तथा उसके कार्य सूक्ष्म व स्थूल तथा इनके धर्मों की समस्त भ्रान्ति से निवृत्त होकर केवल मैं इस विराट जगत् के अभिमानी ईश्वर का भी साक्षी हूँ । इस प्रकार अपने सर्वान्तर्यामि, सर्वव्यापक, नित्य ध्रुव स्वभाव का ध्यान करना चाहिये । अर्थात् दिनभर संसार के व्यवहार करने में एक परमात्मा सर्वत्र समान व्यापक होने का समान भाव चित्त में बनाये रखने हेतु ही सन्ध्या या त्रिकाल

संध्या, उपासना, ध्यान की व्यवस्था है । स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीनों शरीर व जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीन अवस्था के मध्य की अवस्था को जो जोड़ रहा है, जान रहा है, एक सूत्र में बान्धे है वही मैं सर्वव्यापक हूँ । इस प्रकार व्यापक रूप जानने से प्रतिदिन के अभ्यास से राग-द्वेषादि बन्धन रूप कार्य नहीं होंगे ।

प्रश्न - १९० : गीता अध्याय ९ श्लोक २६ में लिखा है कि मैं भक्तों द्वारा दिये गये समस्त भेंट को प्रीति पूर्वक ग्रहण करता हूँ, यह कैसा माना जाय ? हमने तो बहुत बार मूर्तियों के आगे रखा, रोये, प्रार्थना की, किन्तु कुछ भी कम नहीं हुआ ?

उत्तर : आपकी बुद्धि की मन्दता ही इसमें एक मात्र कारण कहा जा सकता है क्योंकि आप ने परमात्मा का रूप ही यथार्थ नहीं समझा । कृष्ण ने तो गीता के १५ अध्याय १४ श्लोक में स्पष्ट कहा है कि -

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

- गीता : १५/१४

मैं ही वैश्वानर अग्नि होकर सब प्राणियों की देहों में रहता हूँ और प्राण, अपान वायु, के समान योग से चार प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ, भोगता हूँ ।

फिर अध्याय १३ के श्लोक १३ में अपने यथार्थ स्वरूप का वर्णन करते हैं कि -

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

- गीता : १३/१३

ब्रह्म सब ओर से हाथ पैर मुख नेत्र श्रोत्र वाला है । फिर कहा है कि

-

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।।

- गीता : ९/२४

सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ अर्थात् समष्टि जीवों में बैठकर मैं ही सब कुछ ग्रहण करता हूँ, किन्तु मन्दबुद्धि वाले जीव मनुष्य रूप में स्थित मुझ अधियज्ञ स्वरूप परमेश्वर को तत्त्व से नहीं जानते हैं और मेरा वहाँ तिरस्कार कर भेद रूप से मेरी किसी मंदिर मूर्ति में कल्पना कर उपासना करते हैं । इसलिये वे पूर्नजन्म को प्राप्त होते हैं । क्योंकि वे -

अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूत महेश्वरम् ।।

- गीता : ९/११

सम्पूर्ण भूतों के महान ईश्वर रूप मेरे परम भाव को याने सच्चिदानन्द स्वरूप को सब देहों में बुद्धि का साक्षी अन्तर्यामी रूप को न जानने वाले मूढ़ लोग मनुष्य का शरीर धारण करने वाले मुझ परमात्मा को मनुष्य रूप में तो तुच्छ समझते हैं तथा जड़ मूर्ति बनाकर वहाँ मनुष्य उपयोगी भोजन सामग्री रख नष्ट करते हैं, किन्तु मुझ साक्षात् ग्रहण करने वाले चैतन्य प्राणी देह रूप भगवान् का अपमान करते हैं । जहाँ से मैं ही सब में बैठकर साक्षात् रूप से प्रीति पूर्वक सब प्रकार का भोजन ग्रहण करता हूँ ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।

- गीता : ९/२६

मेरे पूजन में यह सुगमता है कि पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेम से अर्पण करता है उस शुद्ध बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्त को प्रेम पूर्वक वह अर्पण किया हुआ समस्त भोग मैं प्रकट सगुण रूप से प्रीति

सहित खाता हूँ, किन्तु वे लोग महामुढ़ हैं जो मनुष्य रूप नारायण का अपमान करते हैं तथा उनके द्वारा अन्न जल वस्त्रादि की भिक्षा माँगने पर भी उनका कटु शब्दों से तिरस्कार करते हैं कि चले जावो यहाँ से बड़े अये संड मुसंड । शरम नहीं आती, कमाते खाते नहीं बनता । मूर्ख लोग एक पत्थर की मूर्ति के आगे मनुष्य उपयोगी उत्तम वस्तुयों को नष्ट कर देते हैं । ऐसे लोगों का त्याग या दान धर्म सब राख में होम करने के समान व्यर्थ निष्फल ही जोनना चाहिये ।

परमात्मा तो व्यापक है उससे कोई भी संसार की सामग्री पृथक् तो है ही नहीं जो उसे आप पृथक् से अर्पण कर सकें । उसकी मूर्ति के सामने पदार्थ मिष्टान्न रूप भोग सामग्री रखने मात्र से वह प्रसन्न नहीं होता । पदार्थ तो सांसारिक मनुष्यों की उपयोगिता हेतु बनाये गये हैं न कि जड़ पाषाण के आगे रखने हेतु या अग्नि, जल, पृथ्वी में नष्ट करने हेतु । अतः जिसके पास जो पदार्थ हो उसको उन पदार्थों से उन देहधारियों की रक्षा करनी चाहिये जिनके पास वह वस्तु नहीं है । यही परमात्मा की सच्ची उपासना है; क्योंकि वह परमात्मा ही सब प्राणीयों में रहकर भोग रहा है । प्रत्यक् देहधारीयों में सर्वात्म-परमात्मा का ही वास है ।

''ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति''

- गीता : १८/६१

अतः इन समस्त देहों के उपयुक्त तथा उनकी आवश्यकता और योग्यता के अनुसार सेवा करना ही परमात्मा की सच्ची सेवा है । स्थूल बुद्धि के जीवों का मन एकाग्र करने हेतु कल्पित की हुई देवमूर्तियों चित्रों एवं दूसरे प्रतीकों चिह्नों पर केवल दूध फल, भोजन चढ़ाना एवं अधिकारी मनुष्य को न देना महान पाप और मूढ़ता है ।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

- गीता : ९/१६

सब भूतों में मैं एक समान हूँ । मुझे न तो कोई प्रिय पदार्थ है और न कोई अप्रिय है । जो भक्ति से मेरा भजन करते हैं अर्थात जो मुझ परमात्मा को सब में एक समान देखकर सबकी प्रेमयुक्त सेवा और आदर करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ । अर्थात् वे मेरे साथ एक हो जाते हैं ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्व च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यमि सच में न प्रणश्यति ।।

- गीता : ६/३०

क्योंकि जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्म रूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण प्राणी मात्र को मुझ परमात्मा के अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं दूर नहीं हूँ और वह मेरे लिये दूर नहीं है, क्योंकि वह मेरे में एकीभाव से स्थित है ।

अतः सारे विश्व का समष्टि भाव अर्थात् सब भूत प्राणियों की समष्टि शक्ति ही ईश्वर है यानी एक ईश्वर समस्त चराचर भूत प्राणियों में एक समान व्यापक है, उससे पृथक् कुछ भी नहीं है । इस निश्चय से जगत् को जगदीश समझकर सब प्राणियों के साथ दया, प्रेम, क्षमा, सहयोग, सन्तोष का व्यवहार करना तथा अपने व्यष्टि अहंकार एवं स्वार्थों के समष्टि जगत के अहंकार तथा स्वार्थों के साथ जोड़ना ही सच्ची प्रभुभक्ति है । किसी भी प्राणी को अपने स्वार्थ पूर्ति हेतु दबाना या मारना ही पाप है । विश्व बन्धु, विश्व कुटुम्ब की भावना ही ईश्वरोपासना है । अर्थात् विश्व प्रेम ही ईश्वर की सच्ची भक्ति है ।

प्रश्न - १९१ : विश्व प्रेम रूपी परमात्मा की सगुण उपासना करने वाले जगत् का तिरस्कार करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने वाले भक्तों में से श्रेष्ठ योगि कौन है ?

उत्तर : श्रीमद् भगवत् गीता के दशम अध्याय में अर्जुन को विभूति योग में अपने विराटता का अनुभव कराकर कहा कि भेद बुद्धि से किया गया वेद पाठ, वेदाध्ययन, तप, दान और हवन यज्ञ आदि करने से जगत् के अन्दर मेरे समत्व या एकत्व भाव रूप विश्वरूप को कोई भी नहीं देख सकता, किन्तु अनन्य भक्ति अर्थात् सब के साथ एकत्व भाव के प्रेम से ही मैं अपने इस विराट व्यापक रूप में देखा जाना संभव हूँ । और इसी तरह मेरी अनन्य भक्ति हो सकती है, इसी से मेरे साथ एकता हो सकती है ।

अतः मेरे सगुण रूप में जो परम श्रद्धा अर्थात् सबमें एकत्व भाव की सात्विक श्रद्धा से सगुण रूप समष्टि जगत् को मेरा ही रूप जान कर मेरे इस सगुण रूप में, विश्व की एकता में अपने मन को निरन्तर जोड़ने रूप मेरी उपासना करते हैं उन भक्तों को मैं श्रेष्ठ योगि मानता हूँ ।

सारांश यह है कि विश्व के साथ एकता का प्रेमयुक्त व्यवहार ही सच्ची ईश्वर भक्ति है और जो सब में एक अपने आत्मा का ही प्रकाश देखता है वही सच्चा भक्त या पंड़ित है ।

''पंडिताः समदर्शिनः''

- गीता : ५/१८

अर्थात् ब्रह्मविद्या से संम्पन्न ज्ञानी जन कारण दृष्टि से सब में समान भाव वाले होते हैं । अर्थात् वे किसी जाति, सम्प्रदाय, रूप, भाषा, कर्म, देश, योनि के भेद को न देख सब में अपने आत्म ब्रह्म का ही दर्शन करते हैं ।

इहैव तौर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितः मनः ।

- गीता : ५/१९

इसलिये जिसका मन समत्व भाव में स्थित है उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है अर्थात् वे जीते हुए ही संसार से मुक्त, जीवनमुक्त दशा में स्थित है । अतः वे निराकार तत्त्व की उपासना

करने वालों से अधिक श्रेष्ठ है । सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है इसी से वे भी सव प्राणियों के प्रति समान भाव रखने तथा निर्दोष होने के कारण सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही स्थित होने से मुझे सर्वोप्रिय है ।

किन्तु मन्दबुद्धि वाले जीवों को इस एकता के सूत्र में जोड़ने के लिये प्रथम महापुरुषों द्वारा किसी स्थान विशेष में स्थित होकर किसी मूर्ति चित्र या किसी अन्य नाम विशेष में ईश्वर बुद्धि स्थापित कराकर उपासना कराई जाती है वह साधना अवस्था की प्रारंभिक ईश्वर भक्ति है । यह प्रथमावस्था की कल्पित ईश्वर भक्ति ऊपरोक्त सगुण ब्रह्म की सच्ची ईश्वर भक्ति का साधन मात्र है, लक्ष्य नहीं है । जिस प्रकार उच्च डिग्री पाने वाले के लिये वर्णमाला प्रारंभिक अवस्था है । उच्च कक्षा में प्रवेश करने के बाद वर्णमाला का अभ्यास छोड़ दिया जाता है । अथवा जिस प्रकार छोटी आयु में कन्याएँ गुड्डियों के खेल द्वारा गृहस्थ की शिक्षा प्राप्त करती है, परन्तु जब वे बड़ी होकर स्वयं सच्चे गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर जाती हैं तब वे पुनः उन कल्पित गुड्डियों के साथ खेल नहीं खेलती । उसी तरह यद्यपि विश्वप्रेम रूप ईश्वर भक्ति में मन को जोड़ने की शिक्षा के लिये प्रतीक उपासना किसी स्थान विशेष में अथवा मूर्ति चित्र या अन्य प्रकार के साधन द्वारा करना पड़ता है । परन्तु इस प्रतीक उपासना का लक्ष्य केवल प्रारम्भिक अवस्था में मन को एकाग्र करने के अभ्यास तक ही सीमित रखना चाहिये; न कि जन्म भर इसी में लगे रहना है । यदि इसी प्रतीक उपासना को ईश्वर की सच्ची भक्ति मान कर जीवन खो दिया तो यह ईश्वर की मिथ्या भक्ति ही होगी । बल्कि प्रत्यक् उपासना करते समय भी सभी मन्दिर, तीर्थों, मूर्ति, चित्र, आकार, नाम, रूपों में एक ही व्यापक ईश्वर का लक्ष्य रखना है, भिन्न भिन्न तो समझना ही नहीं चाहिये । पर आश्चर्य है लोग बुढ़े हो जाते हैं वहाँ तक प्रतीक उपासना उन लोगों से नहीं छूटती, जो कि ईश्वर भक्ति की वर्णमाला मात्र ही थी । इससे तो वे बच्चे ज्यादा समझदार है जो ५ वर्षों में अपना झुनझुना, चुसनी फेंक देते हैं ।

तुलसी जप तप पुजिवे सब गुड़ियन का खेल ।
खेलत खेलत जब गुरु मिले दई पिटयिा मेल ।।

तात्पर्य यह है कि ईश्वर किसी एक मूर्ति, स्थान, नाम, रूप विशेष की सीमा में बान्ध तथा इनकी उपासना में जन्म भर लगे रहना और इनके अतिरिक्त दूसरों के देवता धर्म या प्राणी से ईर्षा, द्वेष, घृणा, तिरस्कार, कपट, व्यभिचार, हिंसा आदि के क्रूर व्यवहार करते रहना भक्ति नहीं पापाचार है । अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति हेतु अन्य को सताना, लूटना, मारना आदि पशु कर्म करना व दंभ तथा नाम प्रतिष्ठा हेतु पूजा, यज्ञ, दानादि कर्म करना तथा अपने अवतार को श्रेष्ठ व अन्य के भगवान को गौण मानना यह ईश्वर भक्ति नहीं किन्तु ईश्वर तिरस्कार ही है । परन्तु अपनी सब प्रकार की व्यक्तिगत शक्तियों का समष्टि जगत् के लिये उपयोग करना माता, पिता, स्त्री, पति, गुरु, अतिथि, भिक्षुक आदि की सेवा एवं प्रेम भाव रखना ही भक्ति है । जिनमें दैविक संपदा के गुण तथा सात्विक भाव की विशेषता हो ऐसे प्रत्यक्ष और चेतन देवों की सेवा शुश्रुषा एवं आदर सत्कार द्वारा निःस्वार्थ से पूजा करना ही सच्ची ईश्वर भक्ति है । किन्तु प्रत्यक्ष चेतन माता, पिता आदि की सेवा शुश्रुषा न कर कल्पित जड़, पाषाण मूर्ति के आगे भोग रखना उनकी पूजा अर्चना करना यह देव पूजन नहीं बल्कि देव तिरस्कार ही है । जीवित माता, पिता को तो पुछते नहीं मरने पर उनके पीछे श्राद्ध, बारवाँ, तेरहवाँ का भोजन नगर जातिवासी को देना अथवा उनकी समाधि मकबरा बनवाना और पूजना सब भूत प्रेत पूजन है ।

अतः स्थूल प्रतीक उपासना पद्धती का उलंघन करके बुद्धि को सूक्ष्म तात्विक विचारों में बढ़ाते बढ़ाते ही अन्य में वह आत्मनिष्ठ होती है, और उस आत्मनिष्ठा बुद्धि से यथार्थ निर्णय होकर सबके साथ एकता के अनुभव युक्त व्यवहार से ही ईश्वर की सच्ची पूजा भक्ति हो सकती है । परन्तु बहुत थोड़े लोग ही स्थूलता से हट कर उसके पीछे सूक्ष्म तत्त्व का विचार करने में समर्थ होते हैं ।

विधि निषेध की मर्यादाएँ भी सदासर्वदा स्थायी रूप से हितकारक एवं सुखप्रद नहीं रह सकती । इसलिये तत्त्वदर्शी महात्मा लोग साधारण लोगों के लिये जो विधि निषेध कट्टरता से पालने योग्य होते हैं, उन पर स्वयं कट्टरता की पावन्दी नहीं रखते हैं, किन्तु अपनी शुद्ध सात्विक बुद्धि के आधार से उन विधिनिषेध में देशकाल और पात्रतानुसार आवश्यक परिवर्तन करके अथवा नवीन मर्यादा सिद्धान्त प्रणाली द्वारा संसार में व्यवहार किया करते हैं । ऐसा करने से लौकिक दृष्टि से भले वे व्यवहार अच्छे प्रतीत हो या बुरे अथवा प्रचलित मर्यादा रहे या टूटे, इसकी वे कुछ भी परवाह नहीं करते । आत्मज्ञान से ही सात्विक विचार उदय होते हैं तथा सात्विक विचारों से आत्मज्ञान उदय होता है । अतः जिज्ञासुओं का नेतृत्व करनेवालो बड़े लोगों तथा महात्माओं का कर्तव्य है कि वे सूक्ष्म विचारों को बढ़ाते बढ़ाते आत्मज्ञान प्राप्त करके आत्मनिष्ठ साम्य बुद्धि द्वारा संसार का व्यवहार कर जगत् में आदर्श स्थापित करें ।

सगुण परमात्मा की सच्ची भक्ति करने के लिये उसके अबिनाशी, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी सदा एकरस रहने वाले अनादि अनन्त, नित्य, निर्मल, अद्वितीय भाव का तथा सच्चिदानन्द स्वरूप का बारम्बार ओतप्रोत भाव से चिन्तन करते रहना चाहिये । यदि प्रारम्भ में मन न लगे तो किसी प्रतीक की किसी नाम की कल्पना कर ध्यान करना चाहिये । परन्तु परमात्मा के ऊपरोक्त भाव तथा स्वरूप पर लक्ष्य रखे बिना केवल किसी नाम के जप की निरन्तर माला फेरते रहना भक्ति नहीं किन्तु समय और शक्ति का अपव्यय करना ही है । नाम और रूप चाहे कितने ही सुन्दर और उच्चकोटि के क्यों न हो वस्तुतः वे कल्पित माया के ही खेल हैं । दोनों ईश्वर की उपाधियाँ है और उपाधियाँ स्वयं मिथ्या है । वे किसी की अपेक्षा से आती है, उस कारण के अभाव में वे भी लय हो जाती है । जैसे पुत्र कारण से पुरुष में पिता की उपाधि या पति होने से स्त्री में पत्नी की उपाधि आई किन्तु पुत्र के मरने पर पिता उपाधि का व पति के मरने पर स्त्री से पत्नी उपाधि का भी सर्वथा

अभाव हो जाता है । ऐसे ही अविद्या व माया उपाधि के कारण एक शुद्ध ब्रह्म में ईश्वर व जीव नाम रूप की कल्पना हो गई है, पर अज्ञान के नष्ट होते ही नाम रूप दोनों की अत्यन्त हानि हो जाती है । मात्र एक शुद्ध ब्रह्म ही शेष रह जाता है । कल्पित नाम रूप में मन की एकाग्रता हेतु प्रथम तो लगाना कर्तव्य हो सकता है, किन्तु एकाग्रता के पश्चात तो नाम रूप में से मन को हटाकर समष्टि रूप परमात्मा को अपने आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थिति करनी चाहिये । नाम, रूप उपासना से छूटकारा पाये बिना अपने परमात्मा रूप आत्मा में स्थिति नहीं हो सकती । अतः नाम तथा रूप को ही जीवन का अन्तिम सर्वोपरि साधन व लक्ष्य मानकर उसीमें जीवन की इतिश्री कर देना यह ज्ञान नहीं अज्ञान है तथा मनुष्य देह की उन्नति नहीं अवनति या महान क्षति है । यह ८४ लाख योनियों के पश्चात् प्राप्त ईश्वर कृपा से देव दूर्लभ शरीर को अज्ञानता में ही रखकर स्वरूप के बिना जाने जगत् से चले जाना महान हानि ही है । उपनिषद ऐसे लोगों को कृपण ही कहता है तथा जो लोग इस आत्म ब्रह्म को जान लेते हैं वही ब्राह्मण कहलाने योग्य हैं । केवल शिखा (चोटी), जनेऊ (सूत्र), तिलक धारण करने से या शरीर से ब्राह्मण कुल में पैदा होने को ब्राह्मण नहीं कहते । अतः अपने आत्मदेव को सबमें देखना व अपने देह की रक्षा व उपयोगिता का जैसा ख्याल रखा जाता है कैसा ही समष्टि जीवों क्रे प्रति व्यवहार रखना ही सगुण भगवान की आराधना है । पत्थर निर्मित मूर्ति की उपासना ईश्वर की सच्ची भक्ति नहीं हो सकती है ।

प्रश्न - १९२ : यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष तो पापों से छूटते हैं किन्तु जो बिना यज्ञ किये खाते हैं वे पापी चोर कैसे होते हैं ? **- गीता : ३/१३**

उत्तर : चाहे स्त्री हो या पुरुष, ब्रह्मचारी हो या गृहस्थी, बानप्रस्थ हो या संन्यासी और चाहे जिस जाति सम्प्रदाय देश भाषा का प्राणी क्यों न हो संसार के खेल में लोक संग्रह के लिये कर्म करना सबको आवश्यक है । फिर कर्म किये बिना कोई भी देहधारी जीव एक क्षण भी नहीं रह सकता ।

"न हि देह भूता शक्यं त्युक्तुं कर्माण्यशेषतः"

- गीता : १८/११

"न हि कश्चित क्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्मकृत"

- गीता : ३/५

गृहस्थी को अपने योग्य लोक संग्रह में कार्य करना पड़ता है । संन्यासी के स्वाँग में उसके योग्य व्यवहार किये जाते हैं । अपने-अपने आश्रमानुसार कर्म दोनों को ही करना पड़ता है । समत्व बुद्धि से लोक संग्रह के लिये गृहस्थ का व्यवहार करने से सर्वत्र एकता के अनुभव रूप आत्मज्ञान का जो निरतिशय सुख अर्थात स्वतन्त्रता या मुक्ति प्राप्त होती है वही समत्व बुद्धि से संन्यास का व्यावहार करने से होती है । इसके विपरीत अपने पृथक् व्यक्तित्व के अहंकार और व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति रखकर व्यवहार करने से दोनों ही बन्धन के हेतु हैं ।

जो कर्म फल का आश्रय न करके अर्थात् जो व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति से रहित होकर अपना कर्तव्य कर्म करता है वही संन्यासी और योगि है । गुण कर्म स्वभावानुसार अपने कर्त्तव्य कर्म अपने-अपने योग्यतानुसार लोक संग्रह के लिये कार्य करो । अर्थात् संसार चक्र चलाने में अपना पार्ट यथावत् बजाने के भाव से प्रत्यक् व्यक्ति को दूसरों से पृथक् अपने व्यक्तित्व के अहंकार और दृश्यों से पृथक् अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की आसक्ति छोड़कर अवश्य ही सदा काम करते रहना चाहिये । लोक संग्रह अर्थात् जगत् के व्यवहार चलाने रूपी यज्ञ के निमित्त कर्म किये बिना किसी का भी जीवन निर्वाह नहीं हो सकता; क्योंकि जगत् की स्थिति सबके अपने-अपने कर्त्तव्य कर्म करने रूपी यज्ञ चक्र पर ही निर्भर है ।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्ध येत कर्मणः ॥

- गीता : ३/८

नियत अर्थात् गुण कर्म स्वभावानुसार अपने जिम्मे आये हुए कर्मों को तू कर । कर्म न करने से तो तेरी शरीर यात्रा भी नहीं हो सकती । अर्थात् कर्म किये बिना शरीर का निर्वाह ही नहीं हो सकता । अतः कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही अधिक श्रेष्ठ है ।

तुम देवताओं को सन्तुष्ट करो और वे देवता तुम्हें सन्तुष्ट करें । अर्थात् तुम अपने-अपने हिस्से के कर्त्तव्य कर्म करने द्वारा समष्ठि आत्मा याने परमात्मा को सन्तुष्ट करो । इस जगत् को धारण करने वाली उसकी सूक्ष्म शक्तियों को जो समष्टि रूप से जगत् के सब कार्य कर रही है - के साथ तुम अपनी अपनी व्यष्टि शक्तियों के व्यवहारों का योग दो और तुम्हारी सबकी व्यष्टि शक्तियों के व्यवहारों के योग से पूरित हुई वे परमात्मा की समष्टि दैवी शक्तियाँ तुम सबकी आवश्यकताएँ पूरी करेगी । इस तरह सबके साथ समता तथा अपने-पन की भावना रखते हुए एक दूसरे को मदत देते हुए परम श्रेय अर्थात् उत्तम पद को प्राप्त होओ । सब अपने-अपने हिस्से का यदि काम करते रहें तो संसार का व्यवहार सुचारू रूप से चलता रहेगा जिससे सबको सब प्रकार के जीवन निर्वाह उपयोगी पदार्थ मिलते रहेंगे ।

परन्तु जो व्यक्ति दूसरों से तो अपने जीवन उपयोगी भोग सामग्री को ग्रहण कर लेता है परन्तु उन्हीं का दिया हुआ पीछा उन्हें दिये बिना जो व्यक्ति सब भोग्य पदार्थ केवल आप ही भोगता है वह निश्चय ही चोर है, क्योंकि उसके योग्यतानुसार उसके द्वारा कर्म न होने से उसके कर्म का बोझा भी संसार के अन्य लोगों पर पड़ता है तथा संसार चक्र में बाधा पड़ती है । आजकल मूर्ख अज्ञानी लोग संसार के लिये बोझ बने हैं । मिथ्या वैराग्य का नाटक रचकर संन्यासी, योगि, साधु, भिक्षुक बने घुम रहे, मजा कर रहे हैं । वे सबकी सेवा का उपयोग तो लेते रहते हैं, किन्तु स्वयं समष्टि जगत् के उपयोगी पदार्थों को उत्पन्न करने में कोई मदद नहीं करते । ऐसे धूर्त जगत् के लिये अभिशाप रूप है तथा वे पापी, चोर ही हैं ।

किन्तु यज्ञ से बचे हुए भाग को ग्रहण करने वाले सज्जन सब पापों से मुक्त हो जाते हैं अर्थात् जो मनुष्य संसार चक्र में अपने कर्त्तव्य कर्मों को अच्छीतरह पालन करके उनसे प्राप्त होने वाले पदार्थों को यथायोग्य दूसरों की आवश्यकताएँ पूरी करते हुए अप भी अपनी आवश्यकता अनुसार भोगते हैं उनको सदाचारी निष्पाप साधु ही जानना चाहिये । जो लोग अपने व्यक्ति गत स्वार्थ की पूर्ति हेतु ही कर्म करते हैं वे तो पाप ही भोगते हैं ।

प्रश्न - १९३ : यज्ञ तथा देवता शब्दों का क्या लक्ष्यार्थ है ?

उत्तर : यज्ञ शब्द का अर्थ अधिकतर लोग वैदिक कर्मकाण्ड के ''हवन'' याने अग्नि में पदार्थों की आहुतियाँ देने को कहते हैं तथा देवता का अर्थ भी स्वर्गादि लोकों में बैठे हुए इन्द्रादि देवता समझे हुए हैं ।

परन्तु वास्तविक दृष्टि से देखा जावे तो गीता अध्याय १७ श्लोक ५ में स्वयं कृष्ण कहते हैं कि जो लोग मेरे इस पंचभूत रूप शरीर को सुखाने वाले, कमजोर करने वाले या नष्ट करने वाले हैं वे आसुरी प्रकृति के पुरुष हैं । तब फिर जीवन रक्षा के उन्हीं पदार्थों को अग्नि में नष्ट करना धर्म, पुण्य या विधि कैसे हो सकता है ? वैदिक कर्मकाण्ड तो गीता के दूसरे अध्याय श्लोक ४२ से ५३ तक में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को साफ मना कर दिया है । अतः वही कर्म का पुनः विधान किस प्रकार हो सकता है ।

''मैं ज्ञान यज्ञ से पूजित होता हूँ''

- गीता : १८/७०

''मैं सब यज्ञों का अधियज्ञ हूँ''

- गीता : ९/२४

तथा अध्याय ४ श्लोक ३३ में तो समस्त द्रव्यों से सिद्ध होनेवाले यज्ञों की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कहा है । यदि अग्नि में आहुति देने से वृष्टि (उत्पत्ति) होती है तो वह बाहर की अग्नि का संकेत नहीं है, किन्तु -

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणीनां देहमाश्रितः

- गीता : १५/१४

समष्टि चेतन प्राणियों में स्थित वैश्वानर रूप जठराग्नि में आहुति देने से समष्टि शक्ति की उत्पत्ति होने से संसार चक्र चलता है । यदि देह में आहुति न डालें तो संसार चक्र ही कैसे चल सकेगा ? फिर यदि बाहर अग्नि कुन्ड में हवन करने को ही यज्ञ कहें तो भारत में अन्न व धन की कमी व विदेशों में अन्न की बहुतायत क्यों है ? वहाँ कौनसा यज्ञ अधिक होता है ? तो विचार द्वारा पता चलता है कि वहाँ सभी प्राणी अपना अपना कार्य गुण कर्म स्वभाव अनुसार उचित रूप से करते हैं । कोई निकम्मा आलसी बना नहीं बैठता । हमारे देश में कितने करोड़ व्यक्ति चोर, डाकु, नेता, गुरु, भिक्षुक, साधु, आलसी, पण्डा, पूजारी रूप बने बैठे दूसरों के सहयोग से उत्पन्न भोगों को तो भोग रहे हैं किन्तु स्वयं उनके भोगों में सहयोगी नहीं बनते । इसीलिये यह देश महान संकटों की थपेड़ों में आता रहता है । यदि यज्ञ शब्द का अर्थ हवन करने मात्र की ही प्रजापति की आज्ञा जीवों के प्रति हुई ऐसा मानलें तो फिर यज्ञ के अलावा पठन-पाठन, युद्ध, राज्य पालन, वाणिज्य, खेती, सेवा, दान, परोपकार आदि के निमित्त किये जाने वाले सभी कर्म निषेध रूप मानना होगा । और यदि सब इन कर्मों को बन्धन रूप मान कोई कार्य न करें तो सबके जीवन उपयोगी वस्तु फिर कौन बनावेगा ? व जीवन निर्वाह भी कैसे होगा ? व यज्ञ की सामग्री घी, जौ, तिल आदि भी कहाँ से आवेगें ? तब तो संसार मे बिनाश लीला ही हो जावेगी । जैसा कि जैन धर्मवाले खेती करने को महापाप मानते हैं । स्वयं वह पाप न करें किन्तु औरों से उत्पन्न अनाज को खाकर जीवन निर्वाह करते हैं । वे जैनी भी उतने ही पापी हैं । जबकि लोक संग्रह ही परमात्मा का लक्ष्य है न कि बिनाश । अतः यज्ञ शब्द का अर्थ हवन नहीं है, बल्कि लोक कल्याणार्थ कर्म करने को ही यज्ञ कहा जाता है और लोक कल्याण हेतु व्यक्तिगत स्वार्थ की आहुति वैश्वानर रूप विराट परमात्मा के लिये देना, त्याग करना ही वास्तविक यज्ञ है ।

इसीप्रकार देवता शब्द का अर्थ स्थूल बुद्धि के साधारण लोगों को समझाने के लिये जगत् को धारण करने वाली समष्टि आत्मा याने परमात्मा की समष्टि सूक्ष्म शक्तियों का स्थूल रूपक बाँधकर किया गया है । यदि समष्टि आत्मा रूप परमात्मा के इस जगत् रूपी विराट शरीर को धारण करने वाली उसकी समष्टि दैवी शक्तियाँ किसी एक ही स्थान में सीमाबद्ध होकर बैठ जायँ तो वहाँ बैठी हुई वे इस बृहत् ब्रह्माण्ड का संचालन ही कैसे कर सकेगी ? क्येंकि यहाँ तो प्रतिक्षण अनन्त अनन्त सृष्टियों की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय साथ साथ ही हो रहा है । एसी अवस्था में वे वहाँ से आकर कर्म करके चले जाते होगें ऐसा भी नहीं माना जा सकता । और इन देवताओं को परमात्मा के अलावा अन्य कुछ मान नहीं सकते, क्योंकि गीता में कहा है -

"**मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय**"

- गीता : ७/७

"**नेह नानास्ति किंचन्**"

एक आत्मब्रह्म से पृथक् कुछ भी नहीं है और जो मानता है वह भेद देखने वाला मृत्यु को ही प्राप्त होता है । अतः एक आत्म ब्रह्म से पृथक् कुछ है नहीं । यदि मानलें कि देवता स्वर्ग में या अन्य लोक में बैठे भी होवे तो उन्हें मृत्युलोक के भोग पदार्थों को लेने का अधिकार भी क्या है ? और फिर वे पीछा देवेंगे भी क्यों ? इस प्रकार उनसे सट्टाबाजी करने से लाभ भी क्या ? हाँ एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के प्रति तो यह यज्ञ करता है तो एक दूसरे का कार्य चलता है । भारत कच्चा लोहा देता है तो जापान मशीनरी भेज देता है । अदृश्य देवताओं को न तो भेजा जाता है न देवता कहीं बाहर है न वहाँ से कुछ आता हुआ ही दीखता है । तथा यहाँ से उन्हें भेजने का न कोई साधन है न वहाँ से हमारे पास आने का काई बाहन ही प्रतीत होता है । फिर जो वायु, सूर्य, जल स्वतः जगत् हेतु अनादि कार्य कर रहे हैं सृष्टि काल तक

बिना किसी सेवा की अपेक्षा किये नगर ग्राम, शहर, बगीचा, मैदान, खेत, जंगल में करते ही रहते हैं ।

अतः जगत् रूपी विराट शरीर को धारण करने वाली समष्टि आत्मा रूप परमात्मा की समष्टि दैवी शक्तियाँ ही देवता है और वे ही सूक्ष्म शक्तियाँ व्यष्टि रूप से प्रत्यक् व्यक्ति के शरीर में है और इन व्यष्टि शक्तियों का समष्टि शक्तियों के साथ सहयोग अर्थात् एकतायुक्त व्यवहार करना ही यज्ञ है । सब भूत प्राणी इस संसार रूपी यज्ञ चक्र के अंग है । यदि वे अपना कार्य नहीं करेंगे तो उतनी ही कभी त्रुटि आ जाती है और उस त्रुटि से सबको कष्ट है । फिर ऐसे लोगों को प्रकृति स्वयं दण्ड देकर पशु बनाकर अधिक कार्य करा व्याज सहित चुकवा लेती है । संसार में जितने जड़ चेतन पदार्थ हैं वे सब परस्पर में एक दूसरे के भोक्ता भोग्य हैं । जो दूसरों की सेवा का उपयोग लेते हैं उन्हें दूसरों की सेवा उपभोग में आना चाहिये । यही सच्चा यज्ञ है और यही देवताओं की सच्ची भक्ति है । परन्तु वर्तमान समय में वैराग्य का व्यतिक्रम इतना ही हो गया है कि जिसका जी चाहे वह संसार के कर्त्तव्यों से विमुख होकर साधु, फकीर, यति, ब्रह्मचारी और वैष्णव वैरागी आदि भेष ले लेता है । इन वेशधारी साधु, फकीर, यति, ब्रह्मचारियों, वैष्णव, वैरागियों आदि की संख्या इतनी बढ़ गई है कि इन लोगों को अगणित शाखा सम्प्रदाएँ बन गई है । इनमें वास्तविक त्यागी,विवेकी, वैराग्यवान तत्त्वज्ञ तो कोई विरले करोड़ों में एक ही होते हैं । शेष तो जगत् व्यवहार से विमुख हुए प्रमाद आलस्य और दुराचार में आयु नष्ट करते हुए समाज राष्ट्र पर बोझा बने हुए हैं; क्योंकि ये लोग समाज या राष्ट्र के लिये सन्तति निरोध के अलावा अपनी कोई सेवा नहीं देते है और स्वयं का अपना बोझा शरीर निर्वाह का भी दूसरों पर डाले रहते हैं । और अज्ञानी लोग अन्धविश्वास से केवल भेष जाति चिन्हों के आधार से ही इन्हें महात्मा मानकर इन्हें आलसी निकम्मा बनाकर इनकी जीवन पर्यन्त सेवा शुश्रुसा भरण पोषण किया करते हैं पर संसार चक्र के लिये ये सब पापी व चोर ही हैं ।